

## प्रधान सम्पादकीय

दिगम्बर जैन परम्पराके साधुवर्ग और श्रावक वर्गमें जिस आचार धर्मका पालन किया जाता है उसके लिए आचार्यकल्प पं. आशाधरका धर्मामृत एक विद्वत्तापूर्ण कृति है। विद्वान् ग्रन्थकारने प्रकृत विषयसे सम्बद्ध पूर्ववर्ती साहित्यका गम्भीरतासे अध्ययन किया था। उन्होंने अपने इस ग्रन्थमें उसको बहुत ही प्रामाणिक और सुव्यवस्थित रीतीसे उपस्थित किया है। यह ग्रन्थ दो भागोंमें विभाजित है-प्रथम भागका नाम अनगार धर्मामृत है और दूसरे भागका नाम सागार धर्मामृत है। ग्रन्थकारने स्वयं ही अपने इस ग्रन्थपर संस्कृतमें ही एक टीका और एक पंजिका रची थी। टीकाका नाम ध्वव्यकुमुदचन्द्रिका और पंजिकाका नाम ज्ञानदीपिका है। टीका और एक पंजिका दोनोंकी एक विशेषता यह है की ये केवल श्लोकोंकी व्याख्यामात्र नहीं करती, अपितु उनमें आगत विषयोंको विशेष रूपसे स्पष्ट करनेके लिए और इससे सम्बद्ध अन्य आवश्यक जानकारी देनेके लिए ग्रन्थान्तरोंसे भी उद्धरण देते हुए उपसपर समुचित प्रकाश भी डालती हैं। इस तरह मुलग्रन्थसे भी अधिक उसकी इन टीकाओंका महत्व है।

भव्यकुमुदचन्द्रिका टीकाके साथ अनगार धर्मामृत और सागार धर्मामृतका प्रकाशन श्री मणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बईसे हुआ है। किन्तु ज्ञानदीपिका एक तरहसे अनुपलब्ध थी। भारतीय ज्ञानपी मूर्तिदेवी ग्रन्थमालाके विद्वान् सम्पादक डॉ. ए. एन. उपाध्ये उसकी खोजमें थे और वह प्राप्त हो गयी। उन्होंने ही सन् १९६३ में यह योजना रखी कि भारतीय ज्ञानपीठसे धर्मामृतका एक सुन्दर संस्करण प्रकाशित हो जिसमें-

( १ ) धर्मामृतके दोनों भाग एक ही जिल्दमें हों, क्योंकि तबतक दोनों भाग पृथक्पृथक् ही प्रकाशित हुए थे।

( २ ) संस्कृत मूल ग्रन्थ शुद्ध और प्रामाणिक पाठके रूपमें दिया जाये। यदि कुछ प्राचीन प्रतियाँ उपलब्ध हो सकें तो उनका उपयोग किया जाये।

( ३ ) प्रथम, श्लोकका शब्दशः अनुवाद रहे। उसके पश्चात् विशेषार्थ रहे जिसमें संस्कृत टीकामें चर्चित विषयों को व्यवस्थित रीतिसे संक्षेपमें दिया जाये। साथ ही, जहाँ आशाधरका अपने पूर्व ग्रन्थकारोंक साथ मतभेद हो वहाँ उसे स्पष्ट किया जाये। विशेष अध्येताओंके लिए उसमें आवश्यक सूचनाएँ भी रहें।

( ४ ) यदि ज्ञानदीपिकाकी पूर्ण प्राप्त हो उस परिशिष्टके रूपमें दिया जाये।

सारांश यह की संस्करण सम्पूर्ण जैनाचारको जाननेके लिए अधिकाधिक उपयोगी हो, अदि।

डॉ. उपाध्येकी इसी योजनाके अनुसार धर्मामृतका यह संस्करण प्रकाशित हो रहा है। किन्तु हमें खेद है कि हम धर्मामृतके दोनों भागोंको एक जिल्दके रूप प्रकाशित नहीं कर सके, क्योंकि ग्रन्थका कलेवर अधिक बृहत्काय हो जाता। अतः हमें भी उसे दो भागोंमें ही प्रकाशित करना पडा है। प्रथम भाग अनगार धर्मामृत है।

पं. आशाधरने गृहत्यागी साधके लिए अनगार और गृहस्थ श्रावकके लिए सागार शब्दका प्रयोग किया है। आगम ग्रन्थोंमें जैन साधुके लिए अणगार शब्द प्रयुक्त हुआ है। तत्त्वार्थसूत्रमें व्रतीके दो भेद किया हैं-अगारी और अनगार ( अगार्यनगारश्च ७।१९३ )। जो गृहवास करता है वह अगारी हैं और जिसके घरबार नहीं है वह अनगार है। तत्त्वार्थसूत्रकी टिका सर्वार्थसिद्धिमें इसपर शंका की गयी हैं कि

इस व्याख्याके अनुसार तो विपरीतता भी प्राप्त हो सकती है। कोई साधु किसी शुन्य घर या देवालयमें ठहरा हो तो वह अगारी कहलायेगा और किसी घरेलू परिस्थितिके कारण कोई गृहस्थ घर त्यागकर वनमें जा बसे तो वह अनगार कहालयेगा। इसके उत्तरमें कहा गया है कि यहाँ अगारसे भावागार लिया गया है। मोहवश घरसे जिसका परिणाम नहीं हटा है वह वनमें रहते हुए भी अगारी है और जिसका परिणाम हट गया है वह शून्यगृह आदिमें ठहरनेपर भी अनगार है। उसी अनगारके धर्मका वर्णन अनगार धर्मावृत्तमें है।

अनगार पाँच महाव्रतोंका पालक होता है। वह अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहका पूर्ण रूपसे पालन करता है। दिगम्बर परम्पराके अनगार अपने पास केवल दो उपकरण रखते हैं-एक जीव रक्षाके लिए मयूरके पंखोंसे निर्मित पिच्छिका और दुसरा शौचादिके लिए कमण्डलु। शरीरसे बिलकुल नग्न रहते हैं। किन्तु श्वेताम्बर परम्पराके अनगार पाँच महाव्रतोंका पालन करते हुए भी वस्त्र, पात्र रखते हैं। अनगारोंकी इस प्रवृत्ति भेदके कारण ही जैन सम्प्रदाय दो भागोंमें विभाजित हो गया और वे विभाग दिगम्बर और श्वेताम्बर कहलाये।

वैस दोनों ही परम्पराओंके अनगारोंके अन्य नियमादि प्रायः समान ही हैं। किन्तु दिगम्बर अनगारोंकी चर्या बहुत कठोर है और शरीरसे भी निस्पृह व्यक्ति ही उसका पालन कर सकता है। जैन अनगारका वर्णन करते हुए कहा है-

येषां भूषणमडसंगतरजः स्थानं शिलायास्तलं  
शय्या शर्करिला मही सुविहिता गेहं गुहा द्वीपिनाम् ।  
आत्मात्मीयविकल्पवीतमययस्त्रुट्यत्तमोग्रन्थयः

ते नो ज्ञानधना मनांसि पुनतां मुक्तिस्पृहा निस्पृहाः ॥ आत्मानु. २५९ ।

अर्थात् शरीरमें लगी धूलि ही जिनका भूषण है, स्थान शिलातल है, शय्या कंकरीली भूमि है, प्राकृत रूपसे निर्मित सिंहोंकी गुफा जिनका घर है, जो मैं और मेरे की विकल्प बुद्धिसे अर्थात् ममत्वभावसे रहित हैं, जिनकी अज्ञानरूपी गाँठ खुल गयी है, जो केवल मुक्तिकी ही स्पृहा रखते हैं अन्यत्र सर्वत्र निस्पृह हैं, वे ज्ञानरूप धनसे सम्पन्न मुनीश्वर हमारे मनको पवित्र करें।

भर्तृहरिने भी अपने वैराग्य शतकमें उनका गुणगान करते हुए काह है-

पाणिः पात्रं पवित्रं भ्रमणपरिगतं भैक्षमक्षय्यमन्नं  
विस्तीर्णं वस्त्रमाशादशकमचलं तल्पमस्वल्पमुर्वी ॥  
येषां निःसंगताङ्गीकरणपरिणतस्वान्तसंतोषिणस्ते  
धन्याः संन्यस्तदैव्यव्यतिकरनिकराः कर्म निर्मूलयान्ति ॥ -वैराग्यशतक, ९९ ।

अर्थात् हाथ ही जिनका पवित्र पात्र है, भ्रमणसे प्राप्त भिक्षा अविनाशी भोजन है, दस दिशाएँ ही विस्तीर्ण वस्त्र हैं, महान् निश्चल भूमि ही शय्या है, निःसंगताको स्वीकार करनेसे परिपक्व हुए मनसे सन्तुष्ट तथा समस्त दीनतारको दूर भगानेवाले वे सौभाग्यशाली कर्मोंका विनाश करते हैं।

कर्मबन्धनके विनाशके बिना मुक्ति प्राप्त नहीं होती और कर्मबन्धनका विनाश कर्मबन्धनसे कारणोंसे बचाव हुए बिना नहीं होता। इसीसे मुक्तिके लिए कठोर कर्म अपनाना होता है। व्रत तप संयम ये सब मनुष्यकी वैषयिक प्रवृत्तिको नियन्त्रित करनेके लिए हैं। इनके बिना आत्मसाधना सम्भव नहीं है जबकि आत्मसाधना करनेका नाम ही साधुता है। इसका मतलब यह नहीं है कि शरीरको कष्ट देनेसे ही

मुक्ति मितली है। सच तो यह है कि आत्मज्ञानके बिना बाह्य साधनोंकी कोई उपयोगिता नहीं है। आत्मरति होने पर शारीरिक कष्टका अनुभव ही नहीं होता।

वस्तुतः इस देशमें प्रवृत्ति और निवृत्तिकी दो परम्पराएँ अतिप्राचीन कालसे ही प्रचलित रही हैं। ऋग्वेदके दशम मण्डलके १३५ वें सूक्तके कर्ता सात वातरशना मुनि थे। वातरशनाका वही अर्थ है जो दिगम्बरका है। वायु जिनकी मेखला है अथवा दिशाएँ जिनका वस्त्र है, दोनों शब्द एक ही भावके सूचक हैं।

भगवान् ऋषभदेव प्रथम जैन तीर्थंकर थे। जैन कलामें उनका अंकन घोर तपश्चर्याके रूपमें मिलता है। इनका चरित श्रीमद्भागवतमें भी विस्तारसे आता है। सिन्धुघाटीसे भी दो नग्न मुर्तियाँ मिली हैं। इनमें से एक कायोत्सर्ग मुद्रामें स्थित पुरुषमूर्ति है। उसकी नग्नता और कायोत्सर्ग मुद्राके आधारपर कतिपय विद्वान् इसे ऐसी मूर्ति मानते हैं जिसका सम्बन्ध किसी जैन तीर्थंकरसे होना चाहिए।

जैन अनगारका भी यही रूप होता है। उसीके आचारका वर्णन इस अनगार धर्माभूतमें है। इससे पूर्व अनगर धर्मका वर्णन प्राकृतके मूलाचार ग्रन्थमें भी है। किन्तु संस्कृतमें यह इस विषयकी प्रथम प्रामाणिक कृति है। पं. आशाधर साधु नहीं थे, गृहस्थ थे। पर थे बहुश्रुत विद्वान् उनकी टीकाओंमें सैकड़ों ग्रन्थोंसे प्रमाण रूपसे उद्धृत पद्य हजारसे भी अधिक हैं।

इस संस्करणमें केवल धनगार धर्माभूतज ज्ञानदीपिका पंजिका सहित सानुवाद दिया गया है। विशेषार्थमें भव्यकुमुदचन्द्रिका नामक टीकाका हिन्दी सार भी समाहित कर लिया गया है, मूल टीका नहीं दी गयी है क्योंकि वह अन्यत्र कई स्थानोंसे प्रकाशित हो चुकी है। फिर इस ज्ञानदीपिका पंजिकाको प्रकाशमें लाना ही इस संस्करणका मुख्य उद्देश्य है। धसागार धर्माभूतज दूसरे भागमें प्रकाशित होगा। उनका मुद्रणकार्य चालू है।

साहू शान्तिप्रसादजीने भारतीय ज्ञानपीठकी स्थापना करके मूर्तिदवी ग्रन्थमालाके अन्तर्गत प्राचीन प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश एवं कन्नड़ जैन साहित्यके प्रकाशन द्वारा जैन वाङ्मयके उद्धारका जो सत्कार्य किया है उसके लिए प्राचीन वाङ्मयके प्रेमी सदा उनके कृतज्ञ रहेंगे। ज्ञानपीठकी अध्यक्ष श्रीमती रमारानी के स्वर्गवास हो जानेसे एक बहुत बड़ी क्षती पहुँची है। किन्तु साहूजीने उनके इस भारको भी वहन करके ज्ञानपीठकी उस क्षतिकी पूर्ति की है यह प्रसन्नताकी बात है।

ज्ञानपीठके मन्त्री बा. लक्ष्मीचन्द्रजी इस अवस्थामें भी उसी लगनसे ज्ञानपीठके प्रकाशन कार्यको बराबर प्रगति दे रहे हैं। डॉ. गुलाबचन्द्रजी भी इस दिशायेँ जागरुक हैं। उत्क सभीके प्रति हम अपना आभार प्रदर्शन करते हुए अपने सहयोगी स्व. डॉ. ए. एन. उपाध्येको अपनी विनम्र श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं।

- कैलाशचन्द्र शास्त्री

- ज्योतिप्रसाद जैन

## प्रस्तावना

### सम्पादनमें उपयुक्त प्रतियोंका परिचय

पं आशाधर रचित धर्मामृतके दो भाग हैं-अनगार धर्मामृत और सागार धर्मामृत । दोनों भागोंकी हस्तलिखित प्रतियाँ भी पृथक्पृथक् ही पायी जाती हैं । तदनुसार इनका प्रकाशन भी पृथक्पृथक् ही हुआ है । सबसे प्रथम भव्यकुमुदचन्द्रिका नामक स्वोपज्ञ टीकाके साथ सागार धर्मामृतका प्रकाशन श्री माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बईसे उसके दूसरे पुष्पके रूपमें सं. १९७२ में हुआ । पश्चात् उसी ग्रन्थमालासे स्वोपज्ञ टीकाके साथ अनगार धर्मामृतका प्रकाशन उसके चौदहवें पुष्प रूपमें सं. १९७६ में हुआ । दोनों ही मूल संस्करण प्रायःशुद्ध हैं । क्वचित् ही उनमें अशुद्धियाँ पायी गयीं । साथमें खण्डान्वयके रूपमें टीका होने से भी मूल श्लोकोंका संशोधन करनेमें सरलता होती है । फिर भी हमने महावीर भवन जयपुरके शास्त्र भण्डारसे अनगार धर्मामृतकी एक हस्तलिखित प्राचीन प्रति प्राप्त की । उसमें मूल श्लोकोंके साथ उनकी भव्यकुमुद चन्द्रिका टीका भी है उनकेआधारसे भी श्लोकोंकेमूल पाठका संशोधन किया गया ।

वही प्रति आमेर शास्त्र भण्डार जयपुरकी है । इसकी वेष्टन संस्था १३६ है । पृष्ठ संख्या ३४४ है । किन्तु अन्तिम पत्रपर ३४५ अंक लिखा है । प्रत्येक पृष्ठमें ११ पंक्तियाँ और प्रत्येक पंक्तिमें ५० से ६० तक अक्षर पाये जाते हैं । लेखन आधुनिक है । मुद्रित प्रतिके बिलकुल एकरूप है । मिलान करनेपर क्वचित् ही अशुद्धि मुद्रित प्रतिमें मिली । ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे इसी या इसीके समान किसी अन्य शुद्ध प्रतिकेआधारपर अनगार धर्मामृतके प्रथम संस्करणका शोधन हुआ है । अपने निवेदनमें संशोधक पं. मनोहर लालजीने इतना ही लिखा है कि इसका संशोधन प्राचीन दो प्रतियोंसे किया गया है जो प्रायः शुद्ध थीं ।

प्रतिकी अन्तिम प्रशस्तिसे ज्ञात होता है की ग्वालियरमें सं. १५४६ में कर्णाटक लिपिसे यह प्रति परिवर्तित की गयी है । तथा जिस कर्णाटक प्रतिसे यह परिवर्तित की गयी उसका लेखनकाल शक संवत् १२८३ अर्थात् वि. सं. १४१८ है । प्रशस्ति इस प्रकार है-

स्वस्ति श्रीमत्तु शक वर्षे १२८३ प्लव संवत्सरद मार्गसि शुद्ध १४ भानुवार दलु श्रीयतु राय राजगुरुमण्डलाचार्यवं कुडीकडियाणरुपं णरघर विक्रमादित्यसम ध्यानकल्पवृक्षरुं श्री लक्ष्मीसेन भट्टारक प्रियगुच्छुकव्वेपनीती सेट्टीयमगपायणनु श्रीकाणूर्गणाग्रगण्य क. कचन्द पण्डित देवरप्रियाग्रशिष्यरु सकलगुणसंपंनरप्य श्री भानुमुनिगलियो केवलज्ञान स्वरुप धर्मनिमित्ताघाति आशाधरकृत धर्मामृत महाशास्त्रमंबरसिकोघ्नु मंगलमाह ।

श्री गोपाचलमहादुर्गे राजाधिराजमानसिघराज्यप्रवर्तमाने संवत् १५४६ वर्षे आषाढ सुदी १० सोमदिने इदं पुस्तकं कर्णाटलिपेन उध्दारितं कायस्थठाणै सम्सुत डाउधू । शुभमस्तु ।

अनागर धर्मामृत पंजिकाकी केवल एक ही प्रति पं. रामचन्द्रजी जैन श्री भट्टारक यशःकीर्ती दी. जैन धर्मार्थ ट्रस्ट ऋषभदेव ( उदयपूर ) से प्राप्त हुई थी । इसकी पत्र संख्या १२७ है । किन्तु १२ वाँ पत्र नहीं है । प्रत्येक पत्रमें १४ पंक्ति और प्रत्येक पंक्तिमें ४२ से ४९ तक अक्षर हैं । लेख स्पष्ट है किन्तु अशुद्ध है । मात्राएँ बराबरमें भी और ऊपर-नीचे भी । संयुक्त अक्षरोंको लिखानेका एक क्रम नहीं है । प्रायः संयुक्त अक्षर विचित्र ढंगसे लिखे गये हैं । त को न और न को त तो प्रायः लिखा है । इसी तरह य को भी गलत ढंगसे लिखा है । च और व की भी ऐसी ही स्थिती है । अन्तिम लिपि प्रशस्ति इस प्रकार है-

नागद्राधीरालिखितम् ॥ संवत् १५४२ वर्षे माहा वदि ३ सोमे अद्येह श्रीगिरिपुरे राउ श्रीगंगदाव्यनिय राज्य श्रीमूलसंघे सरस्वतीगणे बलात्कारगणे श्रीकुन्दकुन्दाचार्यान्वये भ. श्रीसुकलीर्तिदेवा त. भ. श्रीभुवनकीर्ति देवा त. भ. श्रीज्ञानभुषण स्वगुरु भगिनी क्षांतिका गौतमश्री पाठनार्थम् ॥ शुभं भवतु ॥ कल्याणमस्तु ॥

१ धर्म

२. धर्मका अर्थ

वैदिक साहित्यमें धर्म शब्द अनेक अर्थोंमें व्यवहृत हुआ है। अथर्व वेदमें ( ९-९-१७ ) धार्मिक क्रिया संस्कारसे अर्जित गुणके अर्थमें धर्म शब्दका प्रयोग हुआ है। ऐतरेय ब्राह्मणमें सकल धार्मिक कर्तव्योंके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। छान्दारोग्योपनिषद् ( २ । २३ ) में धर्मकी तीन शाखाएँ मानी हैं - यज्ञ अध्ययन दान, तपस्या और ब्रह्मचारित्व। यहाँ धर्म शब्द आश्रमोंके विर्लक्षण कर्तव्यकी ओर संकेत करता है। तन्त्रवार्तिकके अनुसार धर्मशास्त्रोंका कार्य है वर्णों और आश्रमोंके धर्मकी शिक्षा देना। मनुस्मृतिके व्याख्याता मेधातिथिके अनुसार स्मृतिकारोंने धर्मके पाँच स्वरूप माने हैं-१. वर्णधर्म, २. आश्रमधर्म, ३. वर्णाश्रमधर्म, ४. नैमित्तिकधर्म, यथा प्रायश्चित्त, तथा ५. गुणधर्म अर्थात् अभिषिक्त राजाके कर्तव्य। डॉ. काणेने अपने धर्मशास्त्रके इतिहासमें धर्म शब्दका यही अर्थ लिया है।

पूर्वमीमांसा सूत्रमें जैमिनिने धर्मको वेदविहित प्रेरक लक्षणोंके अर्थमें स्वीकार किया है। अर्थात् वेदोंमें निर्दिष्ट अनुशासनोंके अनुसार चलना ही धर्म है। वैशेषिक सूत्रकारने उसे ही धर्म कहा है जिससे अभ्युदय और निश्रेयसकी प्राप्ति हो। महाभारतके अनुशासन पर्वमें ( ११५-१ ) अहिंसाको परम धर्म कहा है। और वनपर्व ( ३७३-७६ ) में आनृशस्यको परम धर्म कहा है। मनुस्मृतिमें ( १-१०८ ) आचारको परम धर्म कहा है। इसी तरह बौद्ध धर्म साहित्यमें भी धर्म शब्द कई अर्थोंमें प्रयुक्त हुआ है। कहीं-कहीं इसे भगवान बुद्धकी सम्पूर्ण शिक्षाका द्योतक माना है। जैन परम्परामें भी धर्म शब्द अनेक अर्थोंमें व्यवहृत हुआ है। किन्तु उसकी अनेकार्थता वैदिक साहित्य-जैसी नहीं है।

धर्मका प्राचीनतम लक्षण आचार्य कुन्दकुन्दके प्रवचनसारमें मिलता है घ्वरित्तं खलु धम्मोड चरित्र ही धर्म है। यह मनुस्मृतिके ध्आचारः परमो धर्मःड से मिलता हुआ है। किन्तु मनुस्मृतिके आचाररूप परम धर्ममें और कुन्दकुन्दके चारित्रमें बहुत अन्तर है। आचार केवल क्रियाकाण्डरूप है किन्तु चारित्र उसकी निवृत्तिसे प्रतिफलित आन्तरिक प्रवृत्तिरूप है। इसका कथन आगे किया जायेगा।

धर्म शब्द संस्कृतकी धृड धातुसे निष्पन्न हुआ है जिसका अर्थ होता है धरनाड। इसीसे कहा है ध्धारणाद् धर्ममित्याहुःड। धारण करनेसे कर्म कहते हैं। अर्थात् जो धारण किया जाता है वह धर्म है। किन्तु आचार्य समन्तभद्रने जो धरता है वह धर्म है ऐसा कहा है। जैसे किसी वस्तुको एक स्थानसे उठाकर दूसरे स्थानपर धरना। उसी तरह जो जीवोंको संसारके दुःखोंसे छुड़ाकर उत्तम सुखमें धरता है वह धर्म है। इसमें धारणवाली बात भी आ जाती है। जब कोई धर्मको धारण करेगा तभी तो वह उसे संसारके दुःखोंसे छुड़ाकर उत्तम सुखमें धरेगा। यदि कोई धर्मको धारण ही नहीं करेगा तो वह उसे

संसारके दुःखोंसे छुडाकर उत्तम सुखमें धरेगा । यदि कोई धर्मको धारण ही नहीं करेगा तो वह उसे संसारके दुःखोंसे छुडाकर उत्तम सुखमें धरेगा कैसे ? क्योंकि उत्तम सुखको प्राप्त करनेके लिए संसारके दुःखोंसे छुटकारा आवश्यक है । और संसारके दुःखोंसे छूटनेके लिए उन दुःखोंके कारणोंसे छूटना आवश्यक है । अतः जो संसारके दुःखोंके कारणों को मिटानेमें समर्थ है वही धर्म है ।

संसारके दुःखोंका कारण है कर्मोंका बन्धन । जो जीवकी अपनी ही गलतीका परिणाम है । वह कर्म बन्धन जिससे कट वही धर्म है । वह कर्मबन्धन कटता है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रसे । अतः वही धर्म है । यही बात आचार्य समन्तभद्रने अपने रत्नकरण्ड श्रावकाचारके प्रारम्भमें कहा है कि मैं कर्मबन्धनको भेटनेवाले उस समीचीन धर्मका उपदेश करता हूँ जो संसारके दुःखोंसे छुडाकर जीवोंको उत्तम सुखमें धरता है । यदि इनसे मिथ्यापना दूर होकर सम्यक्पनश आ आये तो संसारके दुःखोंसे छुटकारा हो जाये । आचार्य कुन्दकुन्दने केवल चारित्रको धर्म कहा है । और आचार्य समन्तभद्रने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको धर्म कहा है । किन्तु इन दोनों कथनोंमें कोई विरोध नहीं है क्योंकि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति हो जायेगी । ऐसा तीन कालमें सम्भव नहीं है । धर्मका प्रारम्भ सम्यग्दर्शनसे होता है क्योंकि जिन आचार्य कुन्दकुन्दने चारित्रको धर्म कहा है उन्होंने ही सम्यग्दर्शनको धर्मका मूल कहा है । और फलोदय नहीं होता, वैसे ही सम्यग्दर्शनके अभावमें सम्यग्ज्ञानके पश्चात् चारित्र धारण करनेकी बात कही है । यही बात आचार्य अमृतचन्द्रने कही है । समस्त जिनशासन इस विषयमें एकमत है कि सम्यग्दर्शन और साम्यग्ज्ञानके बिना सम्यक्चारित्र नहीं होता । इन तीनोंकी सम्पूर्णतासे ही मोक्षकी प्राप्ति होती है । साम्यदर्शन और साम्यग्ज्ञानकी पूर्णता होनेपर भी सम्यक्चारित्रकी पूर्णता न होनेसे मोक्ष नहीं होता, उसकी पूर्णता होनेपर ही मोक्ष होता है । अतः यद्यपि चरित्र होता है वह सम्यक् है और वही धर्म है ।

धर्म शब्दका व्यवहार स्वभावके अर्थमें भी होता है । जैसे अग्निका धर्म उष्णता है । या जीवका धर्म ज्ञानदर्शन है । कोशोंमें धर्मका अर्थ स्वभाव कहा है । अतः वस्तुके स्वभावको भी धर्म कहा है । वैदिक धर्मके साहित्यमें हमने धर्म शब्दका व्यवहार स्वभावके अर्थमें नहीं देखा । किन्तु जैनधार्मिक साहित्यमें वस्तु स्वभावको भी धर्म कहा है । अर्थात् जैसे चरित्रको धर्म कहा है वैसे ही वस्तु-स्वभावको भी धर्म कहा है । जैसे जीवका चारित्र धर्म है वैसे ही उसका वास्तविक स्वभाव भी धर्म है । उदाहरणके लिए जिस स्वर्णमें मेल होता है वह मलिन होता है । मलिनता स्वर्णका स्वभाव नहीं है वह तो आगन्तुक है, सोनेमें ताम्बा, राँगा आदिके मेलसे आयी है । स्वर्णका स्वभाव तो पीतता आदि है । उसे उसके स्वभावमें लानेके लिए स्वर्णकार सोनेको तपाकर शुद्ध करता है तो सोना शुद्ध होनेपर चमक उठता है और इस तरह अपने स्वभावको प्राप्त करता है । इसी तरह जीव संसारमें अपनी प्रवृत्तियोंके कारण कर्मबन्धनसे मलिन है । उसके सब स्वाभाविक गुण

१. देशयामि समीचीनं धर्म कर्मनिवर्हणम् ।

संसारदुःखतः सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे ॥ २ ॥

सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्म धर्मेश्वरा विदुः ।

यदीयप्रत्यनीकानि भवन्ति भवपध्दतिः ॥ ३ ॥

२. विद्यावृत्तस्य संभूतिस्थितिवृद्धिफलोदयाः ।

न सन्त्यसति सम्यक्त्वे बीजाभावे तरोरिव ॥ -र. श्री. ३२ ।

३. मोहतिमिरिपंहरणे दर्शनलाभदवाप्तसंज्ञानः ।  
रागद्वेषनिवृत्तये चरणं प्रतिपद्यते साधुः ॥ -र. श्री. ४७ ।

४. विगलितदर्शनमो हैः समजसज्ञानविदिततत्त्वार्थैः ।  
नित्यमपि निष्प्रकम्पैः सम्यक्चारित्रमालम्ब्यम् ॥ -पुरुषार्थ. ३७४ ।

मालिन हो रहे हैं । वह चारित्ररूप धर्मको धारण करके जब निर्मल होता है तो उसका सभी स्वाभाविक गुण शुद्ध स्वर्णके समान चमक उठते हैं । उसका यह अपने स्वभावको प्राप्त कर लेना ही वास्तवमें धर्म है जो उसमें सदाकाल रहनेवाला है । अतः धर्मका वास्तविक अर्थ वस्तुस्वभाव है । उसीकी प्राप्तिके लिए चारित्ररूप धर्मको धारण किया जाता है । इसीसे स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षामें धर्मके लक्षणोंका संग्रह करते हुए उसे प्रथम स्थान दिया है । यथा-

धम्मो वत्थुसहावो खमादिभावो य दसविहो धम्मो ।

रयणत्तयं च धम्मो जीवणं रक्खणं धम्मो ॥ ४७८ ॥

वस्तुका स्वभाव धर्म है । उत्तम क्षमदिरूप भाव दस भेदरूप धर्म है । रत्नत्रय धर्म है और जीवोंकी रक्षा करना धर्म है । इन चारोंमें धर्मके सब जिनागमसम्मत अर्थोंका समावेश हो जाता है । जिनागममें धर्मका अर्थ, वस्तुस्वभाव, उत्तम क्षमा आदि दस धर्म, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रय और अहिंसा अभीष्ट है ।

### ३. धर्म अमृत है

अमृतके विषयमें ऐसी किंवदन्ती है कि वह अमरता प्रदान करता है । अमृतका अर्थ भी अमरतासे सम्बद्ध है । अमृत नामकी कोई ऐसी वस्तु कभी थी जिसके सेवनेसे अमरता प्राप्त होती थी, यह तो सन्दिग्ध है । क्योंकि संसारकी चार गतियोंमें अमरताका अभाव है । देवोंका एक नाम अमर भी है । किन्तु देव भी सदा अमर नहीं हैं । यतः मनुष्य मरणधर्मा है अतः प्राचीन कालसे ही उसे अमरत्व प्राप्तिकी जिज्ञासा रही है ।

कठोपनिषद्में एक उपाख्यान है । नचिकेता नामका एक बालक मृत्युके देवता यमराजसे जिज्ञासा करता है कि मरे हुए मनुष्यके विषयमें कोई तो कहते हैं कि वह रहता है और कोई कहते हैं घनही रहताड अर्थात् शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धिसे अतिरिक्त आत्मा है या नहीं ? यह बतलावें । यमराज नचिकेताको संसारके भोगोंका प्रलोभन देकर उसे अपनी जिज्ञासासे विरत करते हैं । किन्तु नचिकेता उत्तर देता है - हे यमराज ! ये भोग तो छकल रहेंगे या नहींड इस प्रकारके हैं । ये इन्द्रियोंके तेजको क्षीण करनेवाले हैं । यह जीवन तो बहुत थोडा है । आपके भोग आपके ही पास रहें उनकी मुझे आवश्यकता नहीं है । हे यमराज, जिसके सम्बन्धमें लोग है या नहीं यह सन्देह करते हैं उसे ही कहिए ।

इस तरह विवेकशील मनुष्य इस मरणधर्मा जीवनके रहस्यको जाननेके लिए उत्कण्ठित रहे है और उन्होंने अपने अनुभवोंके आधारपर लोक और परलोकके विषयमें अनुसन्धान किये है और उनके उन अनुसन्धानोंका फल ही धर्म है । किन्तु धर्मके रूपमें विविधताने मनुष्यको सन्देहमें डाल दिया है । अद्यपि इस विषयमें अनुसन्धान करनेवाले परलोकके अस्तित्व और आत्माके अमरत्वके विषयमें प्रायः एकमत है, केवल एक चार्वाक दर्शन ही परलोक और परलोकीको नहीं मानता । शेष सभी भारतीय दर्शन किसी न

किसी रूपमें उन्हें स्वीकार करते हैं और यह मानते हैं कि अमुक मार्गका अवलम्बन करनेसे आत्मा जन्ममरणके चक्रसे छुटकारा प्राप्त होता है अतः धर्म अमृत कहा जाता है उसे पीकर प्राणी सचमुचमें अमर हो जाता है। यह प्रत्येक अनुसन्धाता या धर्मके आविष्कर्ताका विश्वास है। किन्तु धर्मके स्वरूपमें तो विवाद है ही। तत्त्वार्थसूत्रके प्रथम सूत्र घसम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चरित्रकी एकता मोक्षका मार्ग हैड की उत्थानिकामें भट्टाकलंकदेवने जो कथन किया है उसे यहाँ देना उचित होगा। वह कहते हैं कि यह तो प्रसिद्ध है कि एक जानने-देखनेवाला आत्मा है और वह अपने कल्याणमें लगना चाहता है अतः उसे कल्याण या मोक्षके मार्गको जाननेकी इच्छा उत्पन्न होती है। दूसरी बात यह है कि संसारी पुरुषके सब पुरुषार्थमें मोक्ष प्रधान है। और प्रधान के लिए किया गया यत्न फलवाला होता है अतः मोक्षमार्गका उपदेश करना चाहिए क्योंकि उसीसे मोक्षकी प्राप्ति होती है।

शंका-सर्वप्रथम मोक्षका उपदेश ही करना चाहिए, मार्गका नहीं। क्योंकि सब पुरुषार्थमें मोक्ष प्रधान है वही परम कल्याणरूप है ?

समाधान-नहीं, क्योंकि मोक्षके इच्छुक जिज्ञासुने मार्ग ही पूछा है मोक्ष नहीं। अतः उसके प्रश्नके अनुरूप ही शास्त्रकारको उत्तर देना आवश्यक है।

शंका-पूछनेवालेने मोक्षके सम्बन्धमें जिज्ञासा क्यों नहीं की, मार्गके सम्बन्धमें ही क्यों जिज्ञासा की ?

समाधान-क्योंकि सभी आस्तिक मोक्षके अस्तित्वमें आस्था रखते हैं। किन्तु उसके कारणोंमें विवाद है। जैसे पाटलीपुत्र जानेके इच्छुक मनुष्योंमें पाटलीपुत्रको जानेवाले मार्गमें विवाद हो सकती है, पाटलीपुत्रके विषयमें नहीं। उसी तरह सब आस्तिक मोक्षको स्वीकार करके भी उसके कारणोंमें विवाद करते हैं।

शंका-मोक्षके स्वरूपमें भी तो ऐकमत्य नहीं है, विवाद ही है। सब वादी मोक्षका स्वरूप भिन्न-भिन्न मानते हैं ?

समाधान-सभी वादी जिस किसी अवस्थाको प्राप्त करके समस्त प्रकारके कर्मबन्धनसे छुटकारा पानेको ही मोक्ष मानते हैं और यह हमें भी इष्ट है अतः मोक्षकार्यमें विवाद नहीं है।

इसी तरह धर्मसे अमृतत्वकी प्राप्ति होती है अतः धर्म अमृत है इसमें कोई विवाद नहीं है। सभी धार्मिकों की ऐसी आस्था है। तथा ऊपर जो धर्मके चार अर्थ कहे हैं वे चारों ही ऐसे हैं जिनको लेकर विचारशील पुरुष धर्मको बुरा नहीं कह सकते हैं। यदि वस्तु अपने स्वभावको छोड़ दे तो क्या वह वस्तु सत् रह सकती है। यदि आग अपना स्वभाव छोड़कर शीतल हो जाये तो क्या आग रह सकती है। इसी तरह जितने भी पदार्थ हैं वे यदि अपने अपने असाधारण स्वभावको छोड़ दें तो क्या वे पदार्थ अस्तित्वमें रह सकते हैं। प्रत्येक पदार्थका अस्तित्व अपने अपने अपने स्वभावके ही कारण बना है।

इसी तरह लोक मर्यादामें माता, पिता, पुत्र, पति, पत्नी आदि तथा राजा, प्रजा, स्वामी, सवेक आदि अपने अपने कर्तव्यसे च्युत हो जायें तो क्या लोक मर्यादा कायम रह सकती है। यह प्रत्येकका धर्म या कर्तव्य ही है जो संसारकी व्यवस्थाको बनाये हुए है। उसके अभाव में तो सर्वत्र अव्यवस्था ही फैलेगी।

हम जो मानव प्राणी हैं जिन्होंने मनुष्य जातिमें जन्म लिया है और अपनी आयु पूरी करके अवश्य ही विदा हो जायेंगे। हम क्या जड़से भी गये गुजरे हैं। हमारा जड़ शरीर तो आगमें राख होकर यहीं वर्तमान रहेगा। और उस जड़ शरीरमें रहने वाला चैतन्य क्या शून्यमें विलीन हो जायेगा ? अनेक



प्रकारके आविष्कारोंका आविष्कर्ता, समस्त जड तत्वोंको गति प्रदान करनेवाला, सूक्ष्मसे सूक्ष्म विचारका प्रवर्तक क्या इतना तुच्छ है। यह गर्भद्वारा आने वाला और आकरके अपने बुद्धी वैभव और चातुर्य द्वारा विश्वमें सनसनी पैदा करनेवाला मरनेके बाद क्या पुनर्जन्म लेकर हमारे मध्यमें नहीं ही आता। ऐसा क्या कुछ विचार किया है। धर्म भी उसीकी उपज है और असलमें उसीका धर्म धर्म है। उसीका श्रद्धान सम्यग्दर्शन, उसीका ज्ञान सम्यग्ज्ञान और उसीका आचरण सम्यक्चरित्र है। वही सच्चा धर्म है। उसीके आचरण रूपमें दस धर्म आते हैं। वे दस धर्म हैं - उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम उत्तम आर्क्चिन्य, उत्तम ब्रह्मचर्य। क्रोध मत करो, घमण्ड मत करो, मायाचार मत करो, लोभ लालच मत करो, सदा हित मित सत्य वचन बोलो, अपनी इन्द्रियोंको वशमें रखो, अपनी प्रवृत्ति पर अंकुश लगाओ, अपनी और दूसरोकी भलाईके लिये अपने द्रव्यका त्याग करो, संचय वृत्ति पर अंकुश लगाओ। यह सदा ध्यानमें रखो की जिस परिवारके मध्यमें रहते हो और चोरी बेईमानी करके जो धन उपार्जन करते हो वह सब तुम्हारा नहीं है, एक दिन तुम्हे यह सब छोडकर मृत्युके मुखमें जाना होगा। अपनी भोगवृत्ति पर अंकुश लगाओ, परस्त्री गमन छोडो। ये सब कर्म क्या मानवधर्म नहीं है? क्या इनका भी सम्बन्ध किसी सम्प्रदाय विशेषसे है? कौन बुद्धिमान् ऐसा कहनेका साहस कर सकता है।

यदि मनुष्य इस दस मानवधर्मोंको जीवनमें उतार ले तो धर्म मनुष्य समाजके लिए वरदान बनकर अमृतत्वकी ओर ले जानेमें समर्थ होता है। आज जितना कष्ट है वह इन्हींके अभावसे है। आजका मनुष्य अपने भारतीय चरित्रको भूलाकर विलासिता, धनलिप्सा, भोगतृष्णाके चक्रमें पडकर क्या नहीं करता। और धर्मसे विमुख होकर धर्मकी हँसी उडाता है, धर्मको ढकोसला बतलाता है। क्यों न बतलावे, जब वह धर्मका बाना धारण करने वालोंको भी अपने ही समकक्ष पाता है तो उसकी आस्था धर्मसे डिगना स्वाभाविक है। इसमें उसका दोष नहीं है। दोष है धर्मका यथार्थ रूप दृष्टीसे ओझल हो जानेका। जब धर्म भी वही रूप धारण कर लेता है जो धनका है तब धन और धर्ममें गठबन्धन हो जानेसे धन धर्मको भी खा बैठता है। आज धर्म भी धनका दास बन गया है। धर्मका कार्य आज धनके बिना नहीं चलता। फलतः धर्म पर आस्था हो तो कैसे हो। धन भोग का प्रतिरूप है और धर्म त्यागका। अतः दोनोंमें तीन और छह जैसा वैमुख्य है। इस तथ्यको हृदयंगम करना आवश्यक है।

#### ४. धर्मके भेद

जैनधर्मके उपदेष्टा या प्रवर्तक सभी तीर्थकार संसार त्यागी तपस्वी महात्मा थे। इस युगमें जैनधर्मके आद्य प्रवर्तक भगवान् ऋषभदेव तो महान् योगी थे। उनकी जो प्राचीन मूर्तियाँ मिलती हैं वे प्रायः कायोत्सर्ग मुद्रामें और सिर पर जटाजूटके साथ मिलती हैं जो उनकी तपस्विताकी सूचक हैं। गृहस्थाश्रमके साथ सर्वस्व त्यागकर वर्षो पर्यन्त वनमें आत्मध्यान करनेके पश्चात् ही पूर्णज्ञानकी प्राप्ति होती है और पूर्णज्ञान होने पर ही धर्मका उपदेश होता है। धर्मोपदेश कालमें तीर्थकार पूर्ण निरीह होते हैं उन्हे अपने धर्मप्रवर्तनकी भी इच्छा नहीं होती। इच्छा तो मोहकी पर्याय है और मोह रागद्वेषके नष्ट हुए बिना पूर्णज्ञान नहीं होता।

इस तरह जब आत्मा परमात्मा बन जाता है। आचार्य समन्तभद्र स्वामीने कहा है-

अनात्मार्थं विना रागैः शास्ता शास्ति सतो हितम् ।

ध्वनन् शिल्पिकरस्पर्शान्मुरजः किमपेक्षते ॥ -र. श्रा.

अर्थात् धर्मोपदेष्टा तीर्थकर कुछ भी निजी प्रयोजन और रागके बिना सज्जनोंको हितका उपदेश देते हैं। मृदंगवादकके हाथके स्पर्शसे शब्द करनेवाला मृदंग क्या अपेक्षा करता है। अर्थात् जैसे वादकके हाथका स्पर्श होते ही मृदंग शब्द करता है उसी तरह श्रोताओंकी भावनाओंका स्पर्श होते ही समवसरणमें विराजमान तीर्थकारके मुखसे दिव्यध्वनि खिरने लगती है।

उसकेद्वारा धर्मकेदो मुख्य भेद प्रकाशमें आते हैं अनगार या मुनि धर्म और सागार या श्रावक धर्म। मुनिधर्म ही उत्सर्ग धर्म माना गया है क्योंकि वही मोक्षकी प्राप्ति साक्षात् मार्ग है। मुनिधर्म धारण किये बिना मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकती। जो मुनि धर्म धारण करनेमें असमर्थ होते हैं किन्तु उसमें आस्था रखते हैं वे भविष्यमें मुनि बननेकी भावनासे श्रावकधर्म अंगीकार करते हैं। अतः श्रावकधर्म अपवादधर्म है।

पुरुषार्थसिद्धयुपायसे ज्ञात होता है कि पहले जिनशासनका ऐसा आदेश था कि साधुके पास जो भी उपदेश सुननेके लिए आवे उसे वे मुनि धर्मका ही उपदेश देवें। यदि वह मनुधर्मको ग्रहण करनेमें असमर्थ हो तो उसे पीछेसे श्रावकधर्मका उपदेश देवें। क्योंकि -

यो यतिधर्ममकथयन्नुपदिशति गृहस्थधर्ममल्पमतिः ।

तस्य भगवत्प्रवचने प्रदर्शितं निग्रहस्थानम् ॥ १८ ॥

अक्रमकथनेन यतः प्रोत्सहमानोतिदूरमपि शिष्यः ।

अपदेपि संप्रतृप्तः प्रतारितो भवति तेन दुर्मतिना ॥ १९ ॥

जो अल्पमति उपदेशक मुनिधर्मको न कहकर श्रावकधर्मका उपदेश देता है उसको जिगानममें दण्डका पात्र कहा है। क्योंकि उस दुर्बुद्धिके क्रमका भंग करके उपदेश देनेसे अत्यन्त दूर तक उत्साहित हुआ भी शिष्य श्रोता तुच्छ स्थानमें ही सन्तुष्ट होकर ठगाया जाता है। अतः वक्ताको प्रथम मुनिधर्मका उपदेश करना चाहिये, ऐसा पुराना विधान था।

इससे अन्वेषक विद्वानोंके इस कथनमें कि जैन धर्म और बौद्धधर्म मूलतः साधुमार्गी धर्म थे यथार्थता प्रतीत होती है।

लोकमान्य तिलकने अपने गीता रहस्यमें लिखा है कि वेदसंहिता और ब्राह्मणोंमें संन्यास आश्रम आवश्यक नहीं कहा गया। उलटा जैमिनिने वेदोंका यही स्पष्ट मत बतलाया है कि गृहस्थाश्रमसे रहनेसे ही मोक्ष मिलता है। उन्होंने यह भी लिखा है कि जैन और बौद्धधर्मके प्रवर्तकोंने इस मतका विशेष प्रचार किया कि संसारका त्याग किये बिना मोक्ष नहीं मिलता। यद्यपि शंकराचार्यने जैन और बौद्धोंका खण्डन किया तथापि जैन और बौद्धोंने जिस संन्यासधर्मका विशेष प्रचार किया था, उसे ही श्रोतस्मार्त संन्यास कहकर कायम रखा।

कुछ विदेशी विद्वानोंका जिनमें डॉ. जेकोवी का नाम उल्लेखनीय है यह मत है कि जैन और बौद्ध श्रमणोंके नियम ब्राह्मणधर्मके चतुर्थ आश्रमके नियमोंकी ही अनुकृति हैं।

किन्तु एतद्देशीय विद्वानोंका ऐसा मत नहीं है क्योंकि प्राचीन उपनिषदोंमें दो या तीन ही आश्रमोंका निर्देश मिलता है। छन्दोग्य उपनिषद्के अनुसार गृहस्थाश्रमसे ही मुक्ति प्राप्त हो सकती है। शतपथ ब्राह्मणमें गृहस्थाश्रमकी प्रशंसा है और तैत्तिरीयोपनिषद्में भी सन्तान उत्पन्न करनेपर ही जोर

दिया है। गौतम धर्मसुत्र ( ८।८ ) में एक प्राचीन आचार्यका मत दिया है कि वेदांको तो एक गृहस्थाश्रम ही मान्य है। वेदमें उसीका विधान है अन्य आश्रमोंका नहीं। वाल्मीकी रामायणमें संन्यासीके दर्शन नहीं होते। वानप्रस्थ ही दृष्टिगोचर होते हैं। महाभारतमें जब युधिष्ठिर महायुद्धके पश्चात् संन्यास लेना चाहते हैं तब भीम कहता है- शास्त्रमें लिखा है की जब मनुष्य संकटमें हो, या वृद्ध हो गया हो, या शत्रुओंसे त्रस्त हो तब उसे संन्यास लेना चाहिए। भाग्यहीन नास्तिकोंने ही संन्यास चलाया है।

अतः विद्वानोंका मत है कि वानप्रस्थ और संन्यासको वैदिक आर्योंने अवैदिक संस्कृतिसे लिया है ( हिन्दूधर्म समीक्षा पृ. १२७ ) अस्तु।

जहाँ तक जैन साहित्यके पर्यालोचन का प्रश्न है उससे तो यही प्रतीत होता है की प्राचीन समयमें एक मात्र अनगार या मुनिधर्मका ही प्राधान्य था, श्रावक धर्मका विस्तार अवश्य हुआ किन्तु मुनि धर्मका महत्व कभी भी कम नहीं हुआ, क्योंकि परमपुरुषार्थ मोक्षकी प्राप्ति मुनिधर्मके बिना नहीं हो सकती। यह सिध्दान्त जैन धर्ममें आज तक भी अक्षुण्ण है।

#### ५. धार्मिक साहित्यका अनुशीलन

हमने ऊपर जो तथ्य प्रकाशित किया है उपलब्ध जैन साहित्यके अनुशीलनसे भी उसीका समर्थन होता है।

सबसे प्रथम हम आचार्य कुन्दकुन्दको लेते हैं। उनके प्रवचनसार और नियमसारमें जो आचार विषयक चर्चा है वह सब केवल अनगार धर्मसे ही सम्बद्ध है। प्रवचनसारका तीसरा अन्तिम अधिकार चरित्राधिकार है। इसके प्रारम्भमें ग्रन्थकारने धर्मतीर्थके कर्ता वर्धमान. शेष तीर्थकर, श्रावण आदिक का नमस्कार करके लिखा है -

किच्चा अरहंताणं सिध्दाणं तह णमो गणहराणं ।

अज्झावयवग्गाणं साहुणं चे व सव्वेसिं ॥ ४ ॥

तेसिं विसुध्ददंसणणाण-पहाणासमं समासेज्ज ।

उवसंपयामि सम्मं जत्तो णिव्वाणसंपत्ती ॥ ५ ॥

अर्थात् समस्त अरहन्तों, सिध्दों, आचार्यों, उपाध्यायों और साधुओंको नमस्कार करके उनके विशुद्ध दर्शन और ज्ञान प्रधान आश्रमको प्राप्त करके साम्यभावको स्वीकार करता हूँ जिससे मोक्षकी प्राप्ति होती है।

इसके पश्चात् इस ग्रन्थका प्रारम्भ ध्वारित्तं खलु धम्मोड् से होता है। इस चारित्रके भी दो रूप होते हैं- सराग और वीतराग। सरागी श्रमणोंको शुभोपयोगी और वीतरागी श्रमणोंको शुद्धीपयोगी कहते हैं। वीतरागी श्रमण ही मुक्ति प्राप्त करते हैं जैसा कि ऊपर कहा है।

कुन्दकुन्दके आठ प्राभृत उपलब्ध हैं। उनमें-से एक चारित्तपाहुड है। उसमें कतिपय गाथाओंसे श्रावकधर्मका बारह व्रतरूप सामान्य कथन है। शेष जिन प्राभृतोंमें भी आचार विषयक चर्चा है वह केवल मुनि आचारसे सम्बद्ध है। उसमें शिथिलाचारीकी कडी आलोचना आदि है। इससे लगता है कि उस समय तक मुनिधर्मका पालन बहुतायत से होता था। किन्तु उसके पश्चात् मुनिधर्ममें कभी आती गयी और शिथिलाचार भी बढ़ता गया है। मुनिधर्मका एकमात्र प्राचीन ग्रन्थ मूलाचार भी कुन्दकुन्दकृत कहा जाता है। वे ही मूलसंधके मान्य आचार्य थे। मूलाचारके पश्चात् मुनिधर्मका प्रतिपादक कोई प्राचीन ग्रन्थ

उपलब्ध नहीं होता। और श्रावकके आचार सम्बन्धी अनेक ग्रन्थ प्राप्त होते हैं जो प्रायः दसवीं शताब्दी और उसके बादके रचे गये हैं। पं. आशाधरका अनगार धर्माभृत ही एक मुनिआचार-विषयक ग्रन्थ उत्तरकालमें मिलता है।

किन्तु श्वेताम्बर परम्परामें मुनिआचार-विषयक विपुल साहित्य है। और उसमें श्रमणों और श्रमणियोंके आचार, संघ व्यवस्था, प्रायश्चित आदिका बहुत विस्तारसे कथन मिलता है जो परिग्रहसे सम्बद्ध होनेके कारण दिगम्बर परम्पराके अनुकूल नहीं पडता। किन्तु उससे तत्कालीन आचार- विषयक अनेक बातोंपर प्रकाश पडता है।

श्वेताम्बर परम्परा भी गृहस्थाश्रमसे मुक्ति स्वीकार नहीं करती। किन्तु उसमें वस्त्रत्याग अनिवार्य न होनेसे, बल्कि उसके विपरीत उत्तरकालमें मुक्तिके लिए वस्त्रधारण आवश्यक कर दिये जानेसे ऐसे प्रसंग मिलते हैं कि गृहस्थ अवस्थामें ही केवलज्ञानके प्राप्ति हो गयी। फिर भी प्राचीन आगमिक साहित्य अनगार-धर्मसे ही सम्बद्ध मिलता है।

इस तरह आचार विषयक साहित्यसे भी यही प्रमाणित होता है कि जैनधर्ममें मुनि आचारका ही महत्व रहा है इतने प्राथमिक कथनके पश्चात् हम अपने प्रकृत विषय पर आते हैं।

#### ६. अनगार धर्म

पं. आशाधरजीने अपने धर्माभृतको दो भागोंमें रचा है। प्रथम भाग अनगार धर्माभृत है और दुसरा भाग सागार धर्माभृत है। जहाँ तक हम जानते हैं आचार विषयक-उत्तरकालीन ग्रन्थ निर्माताओंमें वे ही ऐसे ग्रन्थकार हैं जिन्होंने सागार धर्मसे पूर्व अनगार धर्मपर भी ग्रन्थ रचना कि है। उसमें नौ अध्याय हैं। पहले अध्यायमें धर्मके स्वरूपका निरूपण है। दूसरेमें सम्यक्त्वकी उत्पत्ति आदिका कथन है। तीसरेमें इण्डियन आराधनाका, चतुर्थ अध्यायमें सम्यक् चारित्रिका, पाँचवेंमें भोजन सम्बन्धी दोषों आदिका, छठे अध्यायमें दस धर्म, इन्द्रियजय, संयम, बारह भावना आदिका कथन है। सातवें अध्यायमें अन्तरंग-बहिरंग तपोंका वर्णन है। आठवें अध्यायमें छह आवश्यकोंका वर्णन है और नौवें अध्यायमें नित्यनैमित्तिक क्रियाओंका वर्णन है।

यहाँ हम अनगार धर्मपर विशेष रूपसे प्रकाश डालेंगे क्योंकि इसपर बहुत कम लिखा गया है और श्रावकोंकी तो बात ही क्या, अनगार धर्मका पालन करनेवाले भी अनगार धर्मका साधारण ज्ञान ही रखते हैं। अपने इस लेखनमें हम श्वेताम्बर साहित्यका भी उपयोग करेंगे। जहाँ दिगम्बर मान्यतासे भेद होगा वहाँ उसका निर्देश कर देंगे अन्यथा उसका पृथक्निर्देश नहीं करेंगे।

#### मुनिदिक्षा

प्रवचनसारके तीसरे अधिकारके प्रारम्भमें मुनिपदकी दिक्षाके सम्बन्धमें कहा है-जो श्रमण होना चाहता है वह अपने परिजनोंसे आज्ञा लेकर किसी कुल, रूप और वयसे विशिष्ट गणीके पास जाकर उनसे प्रार्थना करता है। मुनिसंघकी अनुमति मिलनेपर वह अपने हाथसे अपने सिर और दाढीके बालोंका लोंच करता है और घ्यथा जात रूप धरुड्अर्थत् नग्न हो जाता है। यह रूप स्वीकार करके वह गुरुजनसे अपने कर्तव्यकर्मको सुनता है और उसे स्वीकार करके श्रमण हो जाता है।

## दीक्षाकेअयोग्य व्यक्ति

जैन श्रमणका पद एक बहुत ही आदरणीय और उच्च नैतिक मापदण्डका स्थान है। अतः उसे धारण करनेवालेमें कुछ विशेषताएँ होना आवश्यक हैं। श्वे. साहित्यके अनुसार नीचे लिखे व्यक्ति श्रमण संघमें प्रवेश करनेकेअयोग्य माने गये हैं -

१. जिसकी आयु आठ वर्षसे कम है, २. वृद्ध, ३. नपुंसक, ४. रोगी, ५. अंगहीन, ६. कायर या भीरु, ७. जड़बुद्धि, ८. चोर, ९. राजविरोधी, १० पागल, ११. अन्ध, १२. दास, १३. धूर्त, १४. मूढ़, १५. कर्जदार, १६. भागा हुआ या भगाया हुआ, १७. गर्भिणी स्त्री तथा बालकवाली स्त्री। जहाँ तक हम जानते हैं दिगम्बर परम्परामें भी उत्क व्यक्ति मुनिदीक्षाकेअयोग्य माने गये हैं।

श्वे. परम्परामें चारों वर्णोंके व्यक्ति श्रमण हो सकते हैं किन्तु दि. परम्परामें ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यको ही उसकेयोग्य माना गया है।

## संघकेव्यवस्थापक

मूलाचार ( ४।१५५ ) में कहा है कि जिस गुरुकुलमें आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर और गणधर न हों उसमें नहीं रहना चाहिए। आचार्यकेसम्बन्धमें कहा है कि वह शिष्योंकेअनुशासनमें कुशल होता है, उपाध्याय धर्मका उपदेशक होता है। प्रवर्तक संघका प्रवर्तक, उसकी चर्या आदिका व्यवस्थापक होता है। स्थविर मर्यादाका रक्षक होता है और गणधर गणका धारक होता है। श्वे. साहित्यमें इनके सम्बन्धमें विस्तारसे कथन मिलता है।

## गण, गच्छ और कुल

उक्त संघ-व्यवस्थापकोंके अन्तर्गत श्रमण विभिन्न समूहोंमें रहते हैं। तीन श्रमणोंका समूह गण कहलाताथा और उसका प्रधान गणधर होता था। सात श्रमणोंका समूह गच्छ होता था। मूलाचारकी टीकासे लगता है कि टीकाकारके समयमें इनका यथार्थ स्वरूप लुप्त हो गया था क्योंकि ४।१७४ कि टीकामें वह गच्छका अर्थ ऋषिसमुदाय, अथवा चातुर्वर्ण्यश्रमणसंघ अथवा सात पुरुष या तीन पुरुषोंका समूह करते हैं। तथा घुकुलड का अर्थ गुरुसन्तान ( ४।१६६ ) किया है इसके सम्बन्धमें भी विशेष नहीं लिखा। आगे ( ५।१९३ ) कुलका अर्थ शुक्रकुल अर्थात् स्त्री-पुरुषसन्तान किया है, जो लोकप्रसिद्ध है। इसी गाथामें कहा है कि बाल और वृद्धोंसे आकुल गच्छमें रहकर वैयावृत्य करना चाहिए। आगे कहा है-

वरं गणपवेसादो विवाहस्स प्रवेशणं।

विवाहे राग उप्पत्ति गणो दोसाणमागरो ॥ -मूलाचार १०।९२।

अर्थात् गणमें प्रवेश करनेसे विवाह कर लेना उत्तम है। क्योंकि विवाहमें स्त्री स्वीकार करनेपर रागकी उत्पत्ति होती है उधर गण भी सब दोषोंका आकर है।

इससे यह अभिप्राय प्रतीत होता है कि गणमें रहनेपर रागद्वेषकी सम्भावना तो रहती है। फिर गुरुको अपनी मृत्यु उपस्थित होनेपर उसका वियोग दुःखदायक हो सकता है। अतः गणमें भी सावधानीसे रहना चाहिए।

श्वेताम्बर परम्परामें पाँच महाव्रत और छठे रात्रिभोजनविरतिको ही मूलगुण कहा है । किन्तु दिगम्बर परम्परामें सर्वत्र साधुके २८ मूलगुण माने हैं-पाँ महाव्रत, पाँच समिति, पाँचों इन्द्रियोंका निरोध, छह आवश्यक, केशलौच, नग्नता, अस्नान, भूमिशयन, दन्तघर्षण न करना, खडे होकर भोजन करना और एक बार भोजन ।

### भ्रमण या विहार

दोंनो ही परम्परओंमें वर्षाऋतुके चार मासके सिवाय शेष आठ महीनोंमें साधुको भ्रमण करते रहना चाहिए । श्वेताम्बर साहित्यमें घामानुगामंड पदसे एक गाँवसे दूसरे गाँ जानेका कथन है । ऐसा ही दि. परम्परामें भी है ।

ईर्यासमिति साधुका मूलगुण है । उसका कथन करते हुए मूलाचार ( ५।१०७-१०९ ) में कहा है कि जब सूर्यके प्रकाशसे समस्त दिशाएँ प्रकाशमान हो जायें और मार्ग स्पष्ट दिखाई देता हो तब स्वाध्याय, प्रतिक्रमण, देववन्दना आदि नित्यकृत्य करनेके पश्चात् सम्मुख चार हाथ प्रमाण भूमिको अच्छी तरहसे देखते हुए सावधानतापूर्वक मन-वचन-कायके द्वारा शास्त्रमें उपयोग रखते हुए चलना चाहिए ।

### मार्गशुद्धि

जिस मार्गपर बैलगाडी, हाथी, घोडे, पालकी, रथ आदि चलते हों, गाय, बैल आदि सदा आते जाते रहते हों, स्त्री-पुरुष चलते रहते हों, जो धूपसे तप्त होता रहता हो, जहाँ हल आदि चलता हो, ऐसे प्रासुक मार्गसे ही साधुको जाना-आना चाहिए । चलते हुए वे पत्र-पुष्प-लता-वृक्ष-आदिका छेदन-भेदन, पृथ्वीका घर्षण आदि नहीं करते हैं । वे वायुकी तरह एकदम निःसंग होते हैं ।

श्वे. साहित्यमें कहा है कि चलते समय साधुको सावधान रहना चाहिए, अधिक वार्तालाप नहीं करना चाहिए । साथमें गृहस्थ या पाखण्डी साधु नहीं होना चाहिए । अपनी जब आवश्यक वस्तुएँ अपने पास ही रखनी चाहिए-उसे पनीले प्रदेश, हिलते हुए पुल और कीचडमें से नहीं जाना चाहिए । जिस मार्गमें चोर, डाकू, उचक्के बसते हों उधरसे नहीं जाना चाहिए । जिस प्रदेशमें कोई राजा न हो, अराजका फैली हो वहाँ नहीं जाना चाहिए । या जहाँ सेनाका पडाव हो वहाँ भी नहीं जाना चाहिए । उसे खुफिया गुप्तचर समझा जा सकता है । ऐसे वनोंसे भी न जाना चाहिए जिन्हें अधिकसे अधिक पाँच दिनमें भी पार न किया जा सकता हो ।

### जलपर यात्रा

साधु और साध्वी खरीदी गयी या उनके सत्कारकर्ताके द्वारा तैयार की गयी नावसे नहीं जाते । नावके मालिकाकी आज्ञासे नावपर बैठ सकते हैं । साधुको नावके चलानेमें या उसे धक्का वगैरह देनेमें भाग नहीं लेना चाहिए । उसे नावके छिद्र भी बन्द नहीं करना चाहिए । यदि नाववाला साधुको पानीमें फेंक दे तो उसे तैरकर किनारेपर पहुँचने की अनुज्ञाहै । पानीसे निकलकर वह तबतक खडा रहे जबतक उसका शरीर सूख जाये । उसे शरीरको जल्दी सुखानेका कोई प्रयत्न नहीं करना चाहिए । यदि साधुका छिछला जल पार करना पडे तो उसे सावधानीसे किसीको भी छुए बिना पार करना चाहिए । यदि उसके पैरोंमें कीचड लग जाये तो उसे पैर साफ करनेकेलिए घास पर नहीं चलना चाहिए ।

साधुको गंगा, यमुना, सरयू, इरावती और मही इन पाँच महानदियोंको एक मासमें दो या तीन बार पार नहीं करना चाहिए। किन्तु यदि राजभय हो, या दुर्भिक्ष पडा हो, या किसीने उसे नदीमें गिरा दिया हो, या बाढ आयी हो, या अनार्योंका भय हो तो वह इन नदियोंको पार कर सकता है। यह सब आचाररांगकेदूसरे भागमें है। दि. परम्परामें इतना विस्तारसे कथन नहीं है।

#### एक स्थानपर ठहरनेका समय

वर्षाऋतुके अतिरिक्त साधुको गाँवमें एक दिन और नगरमें पाँच दिन ठहरना चाहिए। दोनों परम्पराओंको यह नियम मान्य है। श्वे. साहित्यके अनुसार पाँच कारणोंसे वर्षाऋतुमें भी स्थान-परिवर्तन किया जा सकता है-

किसी ऐसे आचार्यसे जिन्होंने आमरण आहारका त्याग किया हो, कोई आवश्यक अध्ययन करनेकेलिए।

किसी खतरनाक स्थानमें किसीको पथभ्रष्ट होनेसे रोकनेकेलिए।

धर्मप्रचारकेलिए।

यदि आचार्य या उपाध्याय मरण हो जाये।

यदि आचार्य या उपाध्याय ऐसे प्रदेशमें ठहरे हों वर्षा नहीं होती तो उनके पास जानेकेलिए।

कोई साधु एक ही स्थानपर दो वर्षावास नहीं कर सकता। वर्षाकाल बीत जानेपर भी यदि मार्ग कीचडसे या जन्तुओंसे भरा हो तो साधु पाँचसे दस दिन तक उसी स्थानपर अधिक भी ठहर सकते हैं।

#### साधु-आवास

जिस घरमें गृहस्थोंका हो या उनके और साधुके जाने-आनेका मार्ग एक हो, साधुको नहीं रहना चाहिए। जहाँ स्त्रियोंका, पशुओं आदिका आना-जाना हो ऐसे स्थान भी साधु-निवासके लिए वर्जित हैं। प्राचीन कालमें तो साधु नगरकेबाहर वन, गुफा आदि में रहा करते थे।

उत्तराध्ययनमें भी साधुको शून्य घर, श्मशान तथा वृक्षमूलमें निवास करनेकेलिए कहा है। और कहा है कि एकान्तवास करनेसे समाधि ठिक होती है, कलह, कषाय, आदि नहीं होते तथा आत्मनियन्त्रण होता है। उपाश्रय और विहारका निर्देश होनेपर भी श्वेताम्बर साहित्यमें भी साधुको समाजसे दूर एकाकी जीवन बितानेको ही ध्वनि गूँजती है ( हि. जै. मो. १६० )

#### सामाजिक सम्पर्क

प्रवचनसार ( ३।४५ ) में कहा है कि आगममें दो प्रकारके मुनि कहे हैं-एक शुभोपयोगी और एक शुद्धोपयोगी। इसकी टीकामें आचार्य अमृतचन्द्रने यह प्रश्न किया है कि मुनिपद धारण करके भी जो कषाय का लेश होनेसे शुद्धीपयोगकी भूमिकापर आरोहण करनेमें असमर्थ हैं उन्हें श्रमण माना जाये या नहीं ? इसका उत्तर देते हुए उन्होंने कहा है कि आचार्य कुन्दकुन्दने धम्मणेण परिणदप्पाड इत्यादि गाथासे स्वयं ही कहा है कि शुभोपयोगका धर्मके साथ एकार्थसमवाय है। अतः शुभोपयोगीके भी धर्मका सद्भाव होनेसे शुभोपयोगी भी श्रमण होते हैं किन्तु वे शुद्धोपयोगियोंके समकक्ष नहीं होते। आचार्य कुन्दकुन्दने शुभोपयोगी श्रमणोंका वन्दन, नमस्कार, उनके लिए उठना, उनके पीछे-पीछे जाना उनकी

वैयावृत्य आदि करते हैं। इसमें कोई दोष नहीं है। दूसरोंके अनुग्रहकी भावनासे दर्शन ज्ञानके उपदेशमें प्रवृत्ति, शिष्योंका ग्रहण, उनका संरक्षण, तथा जिनपूजाके उपदेशमें प्रवृत्ति संयमकी सिध्दीके लिए ही की जाती है। यद्यपि शुद्धात्मवृत्तिको प्राप्त रोगी, बाल या वृद्ध श्रमणोंकी वैयावृत्यके निमित्त ही शुद्धात्मवृत्तिसे शून्य जनोंके साथ सम्भाषण निषिद्ध नहीं है, किन्तु जो निश्चय व्यवहाररूप मोक्षमार्गको नहीं जानते और पुण्यको ही मोक्षका कारण मानते हैं उनके साथ संसर्ग करनेसे हानि ही होती है अतः शुभोपयोगी भी साधु लौकिक जनोंके साथ सम्पर्कसे बचते हैं।

### परिग्रह

दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही साधु परिग्रह त्याग महाव्रतके धारी होते हैं। किन्तु इसीके कारण दोनोंमें मुख्य भेद पैदा हुआ है। दिगम्बर साधु तो नग्न रहते हैं। नग्नता उनके मूलगुणोंमें-से है। किन्तु श्वेताम्बर साधु वस्त्र धारण करते हैं और वस्त्रको संयमका साधन मानते हैं।

यद्यपि आचारांगमें कहा है कि भगवान् महावीर प्रव्रजित होनेसे तेरह महीने पश्चात् नग्न हो गये। स्थानांगमें महावीरके मुखसे कहलाया है-ध्मए समणाणं अचेलते धम्मे पण्णत्ते<sup>६</sup> अर्थात् मैंने श्रमणोंके लिए अचेलता धर्म कहा है दशवैकालिकमें भी नग्नताका उल्लेख है। उत्तराध्ययनमें नग्नताको छठी परीषह कहा है। किन्तु उत्तरकालीन टीकाकारोंने अचेलताका अर्थ अल्पमुल्य चेल आदि किया, सम्पूर्ण नग्नता अर्थ नहीं किया।

स्थानांगसूत्रमें नग्नताके अनेक लाभ बतलाये हैं। यथा-अल्प प्रतिलेखना, लाघव, विश्वासकर रूप, जिनरूपताका पालन आदि। किन्तु टीकाकारने इसे जिनकल्पियोंके साथ जोड़ दिया।

वस्त्रधारणके तीन कारण कहे हैं- लज्जानिवारण, कामविकारका आच्छादन और शीत आदि परीषहका निवारण। साधु तीन वस्त्र धारण करता है। बौद्धोंमें भी तीन चीवरका विधान है-संघाटी, उत्तरासंग और अन्तरावासक। आचारांगके अनुसार ग्रीष्मऋतुमें साधु या तो एक वस्त्र रखते हैं या वस्त्र नहीं रखते।

वस्त्रका विधान होनेसे वस्त्र कैसे प्राप्त करना, कहाँसे प्राप्त करना, किस प्रकार पहिरना, कब धोना आदिका विधान श्व. साहित्यमें वर्णित है।

जिनकल्पिक साधु हाथमें भोजन करते हैं, पीछी रखते हैं, वस्त्र धारण नहीं करते। अंगसाहित्यमें सर्वत्र जिनकल्प और स्थविर कल्पकी चर्चा नहीं होने पर भी टीकाकारोंने उक्त प्रकारके कठोर आचारको जिनकल्पका बतलाया है। किन्तु उत्तरकालमें तो जिनकल्पियोंको भी वस्त्रधारी कहा है।

श्वे. साधु ऊनसे बनी पीछी रखते हैं और दि. साधु मयूरपंखकी पीछी रखते हैं। दि. साधु हाथमें भोजन करते हैं अतः भिक्षापात्र नहीं रखते। कल्पसूत्रमें भगवान् महावीरको भी पाणिपात्रभोजी बतलाया है। श्वे. साधु वस्त्रके सिवाय भी कम्बल, पात्र, पायपुंछन आदि अनेक उपकरण रखते हैं। दि. साहित्यमें इन सबकी कोई चर्चा नहीं है क्योंकि दि. साधुके लिए ये सब अनावश्यक हैं।

श्वे. साधु श्रावकोंसे पीठफलक, तख्ता, चटाई आदि उपयोगके लिए लेते हैं। उपयोग होने पर लौटा देते हैं। उनमें भी शयनके लिए घास, पत्थर या लकड़ीका तख्ता श्रेष्ठ कहा है। साधुको घास पर अच्छी तरह जीव जन्तु देखकर ही सावधानीसे इस तरह लेटना चाहिए कि किसी दूसरेसे अंग स्पर्श न हो



। आवश्यकता होने पर साधु सुई, उस्तरा, नखच्छेदनी तथा कान सलाईका भी उपयोग करता है किन्तु छाता जूता वर्जित है ।

### भिक्षा और भोजन

साधुको सूर्योदयसे तीन घडीकेपश्चात् और सूर्यास्तसे तीन घडी पहले भोजन कर लेना चाहिए । छिलायीस दोष रहित और नवकोटीसे विशुद्ध आहार ही ग्राह्य होता है । कहा है-

णवकोडिपरिसुध्दं असणं बादालदोसपरिहीणं ।

संजोयणाय हीणं पमाणसहियं विहिसुदिणं ॥ -मूलाचार ६।६३ ॥

श्वे. साधु भी भिक्षाके उचित समय पर भिक्षाके लिए जाता है । वह साथमें किसी श्रावक वगैरहको नहीं रखता और चार हाथ आगे रखकर सावधानता पूर्वक जाता है । यदि मूसलाधार वृष्टि होती हो, गहरा कोहरा छाया हो, जोरकी आँधी हो, हवामें जन्तुओंका बाहुल्य हो तो साधुको भिक्षाके लिए जानेका निषेध है । उसे ऐसे समयमें भी नहीं जाना चाहिए जब भोजन तैयार न हो या भोजनका समय बीत चुका हो । उसे ऐसे मार्गसे जाना चाहिए जिसपर कीचड, जीवजन्तु, जंगली जानवर, गढे, नाला, पुल, गोबर वगैरह न हो । वेश्यावाट, अधिकारियोंके निवास, तथा राजप्रसाद वर्जित है । उसे अपना भिक्षा भ्रमण प्रारम्भ करनेसे पहले अपने सम्बन्धियोंके घर नहीं जाना चाहिए । इससे स्पेशल व्यवस्था हो सकती है । यदि घरका द्वार बन्द हो तो न तो खोलना चाहिए और न उसमें से झांकना चाहिए ।

सुत्रकृतांगसूत्रमें अद्यपि भोजनके छिलालीस दोषोंका निर्देश है किन्तु किसी भी अंग या मूल सूत्रमें उनका ब्योरेवार एकत्र वर्णन नहीं मिलता जैसा मूलाचारमें मिलता है ।

भिक्षा लेकर लौटने पर उसे गुरुको दिखाना चाहिए और पूछना चाहिए कि किसीको भोजनकी आवश्यकता है क्या । हो तो उसे देकर शेष स्वयं खा लेना चाहिए । यदि साधुको भूख लगी हो तो एकान्त स्थानमें किसी दीवारकी ओटमें स्थानके स्वामीसे आज्ञा लेकर भोजन कर सकता है । यदि एक बार घूमने पर पर्याप्त भोजन न मिले तो दूसरा चक्कर लगा सकता है ।

साधुके लिए भोजनका परिमाण बत्तीस ग्रास कहा है । और ग्रासका परिमाण मुर्गीके अण्डेके बराबर कहा है । साधुको अपने उदरका आधा भाग अन्नसे, चतुर्थ भाग जलसे और चतुर्थ भाग वायुसे भरना चाहिए । अर्थात् भूखसे आधा खाना चाहिए ।

श्वे. साधु गृहस्थके पात्रका उपयोग नहीं कर सकता । उसे अपने भिक्षा पात्रमें ही भोजन लेना चाहिए । जब भोजन करे तो भोजनको स्वादिष्ट बनानेके लिए विविध व्यंजनोंको मिलानेका प्रयत्न न करे । और न केवल स्वादिष्ट भोजन ही ग्रहण करे । उसे किसी विशेष भोजनका इच्छुक भी नहीं होना चाहिए ।

इस तरह पाणि भोजन और पात्र भोजनके सिवाय दोनों परम्पराओंमें भोजनके अन्य नियमोंमें विशेष अन्तर नहीं है । नवकोटि परिशुद्ध, दस दोष रहित और उद्गम उप्तादन एषणा परिशुद्ध भोजन ही जैन साधुके लिए ग्राह्य कहा है ।

### प्रायश्चित्त

साधुको प्रमाद, दर्प आदिसे लगे हुए अपने दोषोंका शोधन करना चाहिए । अवलंक देवने अपने तत्त्वार्थवर्तितकमें कहा है कि जैसे अपने आय व्ययका विचार न करनेवाला व्यापारी अन्तमे पछतात है

उसी तरह जो साधु अपने दोषोंका परिमार्जन नहीं करता वह भी उस व्यापारीकी तरह कष्ट उठाता है । अतः सदाचारी कुलीन साधुको अपने गुरुके सम्मुख अपने दोषोंकी आलोचना करनी चाहिए । जिसके सम्मुख आलोचना कि जाय वह व्यक्ति स्वयं सच्चरित्र होना चाहिए । और उसमें इनी क्षमता होनी चाहिए कि वह किसी अन्य पर प्रकट न करे । यह आलोचना दस दोषोंको टालकर करनी चाहिए । आलोचना करनेसे पहले गुरुको अपने विषयमें दयाद्रवित या प्रसन्न नहीं करना चाहिए जिससे वह अल्प प्रायश्चित्त देवें । उपायसे गुरुका अभिप्राय जानकर आलोचना करना अनुमानित नामक दूसरा दोष है । श्वे. के अनुसार आलोचकको ऐसे गुरुके पास नहीं जाना चाहिए जो अल्प प्रयश्चित्त देनेमें प्रसिद्ध है । जो दोष करते गुरुने देखा वही दोष प्रकटन करना तीरा दोष है मोटे दोषको निवेदन करना चतुर्थ दोष है । सुक्ष्म दोषको निवेदन करना पाँचवां दोष है । इस तरह दोष कहना की आचार्य सुन न सकें छन्न है । या अदृष्टकी आलोचना छन्न दोष है । या व्याजसे दोष कहकर जो स्वतः प्रायश्चित्त लेत है वह छन्न दोष है इस तरह श्वे. साहित्य, अपराजिता और मूलाचारकी टीकमें छन्नका स्वरूप क्रमसे कहा है । बहुत जोरसे दोषका निवेदन करना या जब बहुत हल्ला होत हो तब दोषका निवेदन करना शब्दाकुल दोष है । बहुतसे गुरुओंसे दोषकी आलोचना बहुजन दोष है । जो प्रायश्चित्तमें अकुशल है उससे दोषका निवेदन करना अव्यक्त दोष है । जो गुरु स्वयं उस दोषका सेवी हो उससे दोषका निवेदन करना तत्सेवी दोष है । ये सब आलोचना दोष हैं ।

आलोचनाके सिवाय नौ प्रायश्चित्त हैं-प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, मूल ये दोनोमें समान हैं । श्वे. में अनवस्थाप्य पारंचिय है तथा दि. में परिहार और श्रधदान है । अकलंक देवने तत्त्वार्थ वार्तिक ( १।२२ ) में अनुपस्थापन और पारंचिक प्रायश्चित्तका कथन किया है । मूलाचारमें इनका कथन नहीं है । दोनों ही सम्प्रदायोंकेमूल साहित्य में इस प्रायश्चित्तोंको उदाहरण देकर स्पष्ट नहीं किया है कि अमुक दोष होनेपर अमुक प्रायश्चित्त होता है । श्वे. साहित्यमें अनवस्थापन और पारंचितका कुछ विशेष कथन मिलता है ।

### दिनचर्या

साधुको अपना समय बहुत करकेस्वाध्याय और ध्यानमें बितानेका ही निर्देश मिलता है । मूलाचार ( ५।१२१ ) टीकामें कहा है-

सूर्योदय हुए जब दो घड़ी बीत जाये तब देववन्दना करनेके पश्चात् श्रुतभक्ति और गुरुभक्तिपूर्वक स्वाध्यायको ग्रहण करकेसिध्दान्त आदिकी वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, परिवर्तन आदि करे । जब मध्यान्हकाल होनेमें दो घड़ी समय शेष रहे तब आदरके साथ श्रुतभक्तिपूर्वक स्वाध्यायको समाप्त करे । अपने निवासस्थानसे दूर जाकर मलत्याग करे । शरीरका आगा-पीछा देखकर हाथ-पैर आदि धोकर कमण्डलु और पीछी ग्रहण करके मध्यान्हकालकी देववन्दना करे । बालकोंके भरे पेटसे तथा अन्य लिंगियोंसे भिक्षाका समय जानकर जब धुम और मूसल आदिका शब्द शान्त हो, गोचरीकेलिए प्रवेश करे । गोचरीको जाते हुए न तो अतिशीघ्र चले, न अति धीरे चले और न रुक-रुककर चले । गरीब-अमीर घरका विचार न करे । मार्गमें न ठहरे, न वार्तालाप करे । हँसी आदि न करे । नीचकुलोंमे प्रवेश न करे । शुद्धकुलोंमें भी यदि सूतक आदिका दोष हो तो न जावे । द्वारपाल आदि रोकेतो न जावे । यहाँतक अन्य भिक्षाटन करनेवाले जाते हैं वही तक ही जावे । जहाँ विरोधकेनिमित्त हों वहाँ न जावे । दुष्ट गधा, ऊँट,

भैंस, बैल, हाथी, सर्प आदिको दूरसे ही बचा जाये। मदोन्मत्त जनोंसे दूर रहे। स्नान, विलेपन, मण्डन तथा रतिक्रीडामें आसक्त स्त्रियोंकी ओर न देखे। सम्यक् विधिसे दिये हुए आहारको सिद्धभक्ति करके ग्रहण करे। छिद्र रहित पाणिपात्रको नाभिप्रदेशके समीप करके शुरशुर आदि शब्द रहित भोजन करे। भोजन करके मुख, हाथ, पैर धोकर शुद्ध जलसे पूर्ण कमण्डलु लेकर घरसे निकले। धर्मकार्यके बिना अन्य घरमें न जावे। इस तरह जिनालय आदिमें जाकर प्रत्याख्यान ग्रहण करके प्रतिक्रमण करे।

उत्तराध्ययनके २६ वें अध्ययनमें साधुकि दिनचर्या दी हुई है। दिन और रातको चार पहरोंमें विभाजित किया है। रात्रिके प्रथम पहरमें स्वाध्याय, दुसरेमें ध्यान, तीसरेमें शयन और चतुर्थमें स्वाध्यायका विधान किया है। उसकी दैनिक चर्याके मुख्य कार्य हैं प्रतिलेखना, स्वाध्याय, आलोचना, गोचरी, कायोत्सर्ग और प्रतिक्रमण।

#### छह आवश्यक

छह आवश्यक दोनों परम्पराओंमें समान हैं। वे हैं-सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग।

साधु प्रतिलेखना करके शुद्ध होकर प्रतिलेखनाके साथ हाथोंकी अंजलि बनाकर कायोत्सर्गपूर्वक एकाग्रमनसे सामायिक करता है। उस समय साधु समस्त सावद्यसे विरत, तीन गुप्तियोंसे युक्त, इन्द्रियोंको वशमें करके सामायिक करता है अतः वह स्वयं सामायिकस्वरूप होता है। उस समय उसका सबमें समता भाव होता है।

दोनों पैरोंके मध्यमें चार अंगुलका अन्तर रखकर कार्यात्सर्गपूर्वक चौबीस तीर्थकरोंका स्तवन चतुर्विंशतिस्तव है।

कृतिकर्म, चितिकर्म, पूजाकर्म और विनयकर्म ये सब वन्दनाके ही नाम हैं। बत्तीस दोष टालकर वन्दना करनी चाहिए। वन्दनाका मतलब है तीर्थकर, आचार्य आदिके प्रति विनय करना। इससे कर्मोंकी निर्जरा होती है। इसका विस्तृत वर्णन मूलाचारके षडावश्यक अधिकारमें है।

लगे हुए दोषोंकी विशुद्धिको प्रतिक्रमण कहते हैं। दोनों परम्पराओंमें प्रतिक्रमणके छह भेद समान हैं- दैवसिक, रात्रिक, ऐर्यापथिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, वार्षिक। यह आलोचनापूर्वक होता है।

वन्दनाके पश्चात् बैठनेके स्थानको पिच्छिकासे परिशुद्ध करके साधुको गुरुके सम्मुख दोनों हाथोंकी अंजलि करके सरलतापूर्वक अपने दोषोंको स्वीकार करना चाहिए।

दोनों ही परम्पराएँ इस विषयमें एकमत हैं कि प्रथम और अन्तिम तीर्थकरके समयमें प्रतिक्रमण करना आवश्यक है, चाहे दोष हुआ हो या न हुआ हो। किन्तु मध्यके बाईस तीर्थकरोंके साधु दोष लगनेपर ही प्रतिक्रमण करते थे।

प्रत्याख्यानके इस भेद है-अनागत, अतिक्रान्त, कोटिसहित, निखण्डित, साकार, अनाकार, परिमाणगत, अपरिशेष, अध्वानगत और सहेतुक। जैसे चतुर्दशीका उपवास तेरसको करना अनागत प्रत्याख्यान है। चतुर्दशीका उपवास प्रतिपदा आदिमें करना अतिक्रान्त प्रत्याख्यान है। यदि शक्ति होगी

तो उपवास करूँगा, इस प्रकार संकल्प सहित प्रत्याख्यान कोटिसहित है । यथासमय उपवास आदि अवश्य करना निखण्डित है ।

१ मूलाचार ७।१२९।

२ मूला. ७।१४०-१४१।

कनकावली सर्वतोभदे आदि उपवास करना साकार प्रत्याख्यान है । इच्छानुसार कभी भी उपवास आदि करना अनाकार प्रत्याख्यान है । कालका परिमाण करके षष्ठम उपवास आदि करना परिमाणमग प्रत्याख्यान है । जीवनपर्यन्तके लिए चारों प्रकारके आहारको त्यागना अपरिशेष प्रत्याख्यान है । अटवी, नदी आदिके मार्गको लौंघनेपर जो उपवास किया जाता है वह अध्वगत प्रत्याख्यान है । उपसर्ग आदिको लेकर जो उपवासादि किया जाता है वह सहेतुक प्रत्याख्यान है ।

यह प्रत्याख्यान पाँच प्रकारकी विनयसे शुद्ध होना चाहिए, अनुभाषणा शुद्ध होना चाहिए अर्थात् गुरु जिस प्रकार प्रत्याख्यानके शब्दोंका उच्चारण करें उसी प्रकार उच्चारण करना चाहिए । उपसर्ग, रोग, भयानक प्रदेश आदिमें भी जिसका पालन किया गया हो इस प्रकार अनुपालन शुद्ध होना चाहिए तथा भाव-विशुद्ध होना चाहिए ।

दोनों हाथोंको नीचे लटकाकर तथा दोनों पैरोंके मध्यमें चार अंगुलका अन्तर रखते हुए निश्चल खड़े होना कायोत्सर्ग है । इस कायोत्सर्गका उत्कृष्टकाल एक वर्ष और जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त है । अन्य कायोत्सर्गोंके कालका प्रमाण इस प्रकार कहा है-

- |                                 |                            |                             |             |
|---------------------------------|----------------------------|-----------------------------|-------------|
| १. दैनिक प्रतिक्रमण             | १०८ उच्छ्वास               | १०. अन्य ग्रामको जानेपर     | २५ उच्छ्वास |
| २. रात्री प्रतिक्रमण            | ५४ उच्छ्वास                | ११. पवित्र स्थानोंको जानेपर | २५ उच्छ्वास |
| ३. पाक्षिक प्रतिक्रमण           | ३०० उच्छ्वास               | १२. लौटनेपर                 | २५ उच्छ्वास |
| ४. चातुर्मासिक प्रतिक्रमण       | ४०० उच्छ्वास               | १३. मलत्याग करनेपर          | २५ उच्छ्वास |
| ५. वार्षिक प्रतिक्रमण           | ५०० उच्छ्वास               | १४. मूत्र त्यागनेपर         | २५ उच्छ्वास |
| ६. पाँच महाव्रतोंमे-से किसी में | १५. ग्रन्थ प्रारम्भ करनेपर | २७ उच्छ्वास                 |             |
| भी दोष लगनेपर                   | १०८ उच्छ्वास               | १६. ग्रन्थ समाप्ती होनेपर   | २७ उच्छ्वास |
| ७. भोजन लेनेपर                  | २५ उच्छ्वास                | १७. स्वाध्याय करनेपर        | २७ उच्छ्वास |
| ८. पानी लेने पर                 | २५ उच्छ्वास                | १८. वन्दनामें               | २७ उच्छ्वास |
| ९. भोजन करके लौटनेपर            | २५ उच्छ्वास                |                             |             |

१९. उस समय मनमें विकार

उत्पन्न होनेपर २७ उच्छ्वास

इन इन कार्योंमे जो कायोत्सर्ग किये जाते हैं उसके उच्छ्वासोंका प्रमाण मूलाचार ( ७।१५९-१६४ ) में उक्त रूपमें कहा है । ईर्यापथ सम्बन्धी अतिचारोंकी विशुद्धिके लिए कायोत्सर्ग किया जाते हैं । कायोत्सर्गमें स्थित होकर ईर्यापथके अतीचारोंके विनाशका चिन्तन करके उसे समाप्त करके धर्मध्यान और शुल्कध्यानका चिन्तन करना चाहिए । कायोत्सर्गके अनेक दोष कहे हैं तथा चार भेद कहे हैं ।

## स्वाध्यायका महत्त्व

साधु जीवनमें अन्य अन्य कर्तव्योंके साथ स्वाध्यायका विशेष महत्त्व हैं । साधुके पाँच आचारोंमेंसे एक ज्ञानाचार भी है । स्वाध्याय उसीका अंग है । स्वाध्यायके प्रतिष्ठापन और निष्ठापनकी विधिमें कहा है कि प्रभातकालमें दो घड़ी पूर्व समाप्त करना चाहिए । इसी तरह मध्याह्नकालसे दो घड़ी बीतने पर स्वाध्याय प्रारम्भ करे और दिनका अन्त होनेमें दो घड़ी शेष रहने पर समाप्त करे । प्रदोषसे दो घड़ी बीतनेपर प्रारम्भ करे और अर्धरात्रिमें दो घड़ी शेष रहनेपर समाप्त करे । तथा आधी रातसे दो घड़ी बीतनेपर स्वाध्याय प्रारम्भ करे और रात्रि बीतनेमें दो घड़ी शेष रहने पर समाप्त कर दे । इस तरह स्वाध्यायके चार काल कहे हैं यह बतलाता है कि साधुको कभी भी खाली नहीं बैठना चाहिए । सर्वदा अपना उपयोग धर्मध्यानमें लगाये रखना चाहिए ।

## सामाचारी

साधुओंकी सामाचारी भी अपना एक विशेष स्थान रखती है । मूलाचारकी टीकामें इसका अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा है-समता अर्थात् रागद्वेषकेअभावको समाचार कहते हैं । अथवा त्रिकालदेव वन्दना या पंचनमस्कार रूप परिणाम या सामायिकव्रतको समता कहते हैं । निरतिचार मूलगुणोंका पालन ना निर्दोष भिक्षाग्रहण समाचार है । इत्यादि ये सब साधुओंका समान आचार है । इसे ही सामाचारी कहते हैं । पारस्परिक अभिवादन, गुरु आदिकेप्रति विनय ये सब इसीमें गर्भित है ।

सूर्योदयसे लेकर समस्त रातदिनमें श्रमण जो आचरण करते हैं वह सब पदविभागी सामाचार कहलाता है । जो कुछ भी करणीय होता है वह आचार्य आदिसे पूछकर ही करना होता है । यदि गुरु या साधुकी पुस्तक आदि लेना हो तो विनयपूर्वक याचना करना चाहिए ।

पदविभागी सामाचारका स्वरूप बतलाते हुए कहा है-कोई श्रमण अपने गुरुसे समस्त श्रुत जाननेके बाद विनय सहित पूछता है-मैं आपके चरणोंके प्रसादसे सर्वशास्त्र पारंगत अन्य आचार्यके पास जाना चाहता हूँ । पाँच छैं बार पूछता है । गुरुकी आज्ञा मिलनेपर वह तीन, दो या एक अन्य साधुके साथ जाता है एकाकी विहार वही श्रमण कर सकता है जो आगमका पूर्ण ज्ञाता होनेके साथ शरीर और भावसे सुदृढ होता है, तपसे वृद्ध तथा आचार और सिद्धान्तमें पूर्ण होता है । जब वह दूसरे आचार्यकेसंघमें पहुँचता है तो सब श्रमण वात्सल्य भावसे उसे प्रमाण करनेकेलिए खडे हो जाते हैं । सात पग आगे बढ़कर परस्परमें प्रणामादि करते हैं । तीन दिन साथ रखकर उसकी परीक्षा करते हैं कि इसका आचार-विचार कैसा है । उसकेपश्चात् वह आचार्यसे अपने आनेका प्रयोजन कहता है । गुरु उसका नाम, कुल, गुरु, दीक्षाकाल, वर्षावास, शिक्षा, प्रतिक्रमण आदि पूछते हैं । यदि वह अयोग्य प्रमाणित होता है तो उसे छेद या उपस्थापना आदि प्रायश्चित्त देकर शुद्ध करते हैं ।

यदि वह स्वीकार नहीं करता तो उसे स्वीकार नहीं किया जाता । यदि आचार्य छेदयोग्यको भी स्वीकार करते हैं वे स्वयं छेदकेयोग्य होते हैं ।

## मृत्यु

सल्लेखनापूर्वक मरण ही यथार्थ मरण है । भगवती आराधनामें भक्त प्रत्याख्यान, इंगिनी और प्रायोपगमन संन्यासपूर्वक मरणकी विधि तथा मृतकके संस्कारकी विधिका विस्तारसे वर्णन किया है ।

प्राचीन साधु संघमे मृतकका दाहसंस्कार नहीं होता था। वनवासियोंके पास उसके प्रबन्धके कोई साधन भी नहीं होते थे। अतः शवको किसी झाड़ी वगैरहमें रख देते थे और उसकी दशाके ऊपरसे देश और राजा तथा संघका शुभाशुभ विचारा जाता था।

प्राचीन परिपाटी और आजकी परिपाटीमें बहुत अन्तर आ गया है। यद्यपि प्रक्रिया सब पुरातन ही है किन्तु देशकालकी परिस्थितिने उसे प्रभावित किया है और उससे मुनिमार्गमें शिथिलाचार बढा है। फिर भी दिगम्बर मुनिमार्ग-जैसा कठोर संयम मार्ग दुसरा नहीं है। और इतने कठोर अनुशासित संयममार्गके बिना इस संसारके बन्धनसे छुटकारा होना भी सम्भव नहीं है।

कषाय और इन्द्रियासक्ति इस संसारकी जड है और इस जडकी जड है मिथ्याभाव, आत्मस्वरूपके प्रति अरुचि। अपने यथार्थ स्वरूपको न जाननेके कारण ही जीवकी आसक्ति संसारमें होती है। कदाचित् उसमें जिज्ञासा जाग्रत् हो जाये इसे शुभ लक्षण ही मानना चाहिए।

## २. अनगार धर्मांमृत

### विषय परिचय

भगवान् महावीरका धर्म दो भागोंमे विभाजित है-अनगार या साधुका धर्म और सागार या गृहस्थ धर्म। तदनुसार आशाधरजीके धर्मांमृतके भी दो भाग हैं-प्रथम भागका नाम अनगारधर्मांमृत है। इससे पूर्वमें साधुधर्मका वर्णन करनेवाले दो ग्रन्थ दिगम्बर परम्परामें अतिमान्य रहे हैं-मूलाचार और भगवती आराधना। दोनों ही प्राकृत गाथाबद्ध हैं। उनमें भी पात्र एक मुलाचार ही साधु आचारका मौलिक ग्रन्थ है उसमें जैन साधुका पूरा आचार वर्णित है। भगवती आराधनाका तो मुख्य प्रतिपाद्य विषय सल्लेखना या समधिमरण है। उसमें तथा उसके टीका-ग्रन्थोंमे प्रसंगवश साधुका आचार भी वर्णित है। आचार्य कुन्दकुन्दके प्रवचनसारके अन्तमें तथा उनके पहुडोंमें भी साधुका आचार वर्णित है। उसके पश्चात् तत्त्वार्थ सूत्रके नवम अध्याय तथा उसके टीका ग्रन्थोंमे भी साधुका आचार-गुप्ति, समिति, दस धर्म, बारह अनुप्रक्षा, परीषहजय चारित्र-तप, ध्यान आदिका वर्णन है। चामुण्डराके छोटे-से ग्रन्थ चारित्रसारमें भी संक्षेपमें साधुका आचार है। इन्हीं सबको आधार बनाकर आशाधरजीने अपना अनगार धर्मांमृत रचा था। उसमें भी अध्याय हैं-

१. प्रथम अध्यायका नाम धर्मस्वरूप निरूपण है। इसमें ११४ श्लोक हैं। भव्यकुमुदचन्द्रिका टीकाको सम्मिलित करनेसे परिणाम १६०० श्लोक प्रमाण होता है। इसके प्रारम्भमें आवश्यक नमस्कारादि करनेके पश्चात् धर्मके उपदेष्टा आचार्यका स्वरूप बतलाते हुए उसे घ्तीर्थतत्त्वप्रणयननिपुण्ड होना आवश्यक कहा है। तीर्थका अर्थ किया है अनेकान्त और तत्त्वका अर्थ किया है अध्यात्मरहस्य। उन दोनोंके कथनमें चतुर होना चाहिए। यदि वह एकमें ही निपुण हुआ तो दूसरेका लोप हो जायेगा। अर्थात् आगम और अध्यात्म दोनोंकी ही सााकर बोलनेवाला होना चाहिए। जो व्यवहारनिश्चयरूप रत्नत्रयात्मक धर्मका स्वरूप जानकर और शक्तिके अनुसार उसका पालन करते हुए परोपकारकी भावनासे धर्मोपदेश

करता है वह वक्ता उत्तम होता है । तथा जो सदा प्रवचन सुननेका इच्छुक रहता है, प्रवचनको आदरपूर्वक सुनता है, उसे धारण करता है, सन्देह दूर करनेके लिए विज्ञोंसे पूछता है, दूसरोंको प्रोत्साहित करता है वह श्रोता धर्म सुननेका पात्र होत है । जिससे अभ्युदय और निःश्रेयसकी सिद्धि होती है उसे धर्म धर्म कहते हैं । अतः प्रथम धर्मके अभ्युदयरूप फलका कथन किया है और इस तरह यह पुण्यरूप धर्मका फल है । अतः पुण्यकी प्रशंसा की है । उससे पश्चात् संसारकी असारता बतलाकर यर्थाथ धर्म निश्चयरत्नत्रयका कथन किया है । टीकामें लिखा है-अशुभ कर्म अर्थात् कर्म अर्थात् पुण्य और पाप दोनों । क्योंकि सभी कर्म जीवकेअपकारी होनेसे अशुभ होते हैं । इसीसे आगे कहा है-निश्चय निरपेक्ष व्यवहार व्यर्थ है तथा व्यवहारकेबिना निश्चयकी सिद्धि नहीं होती । यहाँ निश्चय और व्यवहारके भेदोंका स्वरूप वर्णित है ।

२. दूसरे अध्यायका नाम है सभ्यक्तोत्पादनादिक्रम । इसमें एक सौ चौदह श्लोक हैं । टीकाके साथ मिलानेसे लगभग १५०० श्लोक प्रमाण होता है । इसमें मिथ्यात्वके वर्णनके साथ सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिकी प्रक्रिया तथा उसके भेदादिका वर्णन है । प्रारम्भमें नौ पदार्थोंका स्वरूप कहा है । फिर सम्यक्त्वके दोषोंका तथा उसके अंगोंका वर्णन है । इसीमें मिथ्यादृष्टियोंके साथ संसर्गका निषेध करते हुए जिनरूपधारी आचार-भ्रष्ट मुनियों और भट्टारकोंसे दूर रहनेकेलिए कहा है ।

३. तीसरे अधिकारका नाम है ज्ञानाराधन । इसमें भेदोंका वर्णन करते हुए श्रुतज्ञानकी आराधनाको परम्परासे मुक्तिका कारण कहा है । इसकी श्लोक संख्या चौबीस है ।

४. चतुर्थ अध्यायका नाम है चारित्राराधन । इसमें एक सौ तेरासी श्लोक हैं । टीकाका परिमाण मिलकर ढाई हारसे भी उपर जाता है । विस्तृत है, इसमें पाँच महाव्रत, तीन गुप्ति और पाँच समितिका वर्णन है ।

५. पाँचवे अध्यायका नाम पिण्डशुद्धि है । इसमें ६९ श्लोक हैं । पिण्ड भोजनको कहते हैं । भोजनके छियालीस दोष हैं । सोलह उदगम दोष हैं, सालह उत्पादन दोष हैं, चौदह अन्य दोष हैं । इन सब दोषोंसे रहित भोजन ही साधुके द्वारा ग्रहण करने योग्य होता है । उन्हीका विस्तृत वर्णन इस अध्यायमें है ।

६. छठे अध्यायका नाम मार्गमहोद्योग है । इसमें एक सौ बारह श्लोक हैं । इसमें दस धर्म, बारह भावना, बाई परीषहोका वर्णन है ।

७. सातवे अध्यायका नाम तप आराधना है । इसमें १०४ श्लोक द्वारा बारह तपोका वर्णन है ।

८. आठवे अध्यायका नाम है आवश्यक निर्युक्ति । इसमें १३४ श्लोक हैं । टीकाके मिलानेसे परिमाण १५४५ श्लोक प्रमाण होता है । साधुके षट्कर्मोंकी षडावश्यक कहते हैं । इनका करना आवश्यक होता है । व्याधि और इन्द्रियोंके वशीभूत जो नहीं है उसे अवश्य कहते हैं और उसके कर्मको आवश्यक कहते हैं । साधुकी दिन-रातकी चर्याका इसमें वर्णन है । छह आवश्यक है-इसामायिक, स्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, कार्योत्सर्ग । इन्हीका वर्णन इस अध्यायमें है । अन्तमें कृतिकर्मका वर्णन है । इसके वर्णनमें कृतिकर्मके योग्य काल, आसान, स्थान, मुद्रा, आवर्त और शिरोनतिका कथन किया है । साधुको तीन बार नित्य देव-वन्दना करना चाहिए । प्रत्यकका उत्कृष्ट काल छह घटिका है । रात्रिकी अन्तिम तीन घटिका और दिनकी प्रथम तीन अधिका पूर्वा वन्दनाका काल है । अपराहयमें छह घटिका है । इसी तरह सन्ध्याको दिनकी अन्तिम तीन घटिका और रात्रिकी आदि तीन घटिका काल उत्कृष्ट है ।

आसनके पध्दासन आदि भेद है। वन्दनाके दो स्थान खडे होना और बैठना। कृतिकर्मके योग्य चार मुद्रा है। उनका स्वरूप ( श्लो. ८५-८६ ) कहा है। वन्दनामे वन्दनामुद्रा, सामायिक और स्तवमे मुक्ताशुक्ति मुद्र, बैठकर कायोत्सर्ग करनेपर योगमुद्रा और खडे होकर करने पर जिनमुद्रा धारण की जाती है। बारह आवर्त होते है, चार शिरोनति होती है।

आगे चौदह श्लोकोसे ( ९८-१११ ) वन्दनाके बत्तीस दोषोका तथा ग्यारह श्लोकोसे ( ११२-१२१ ) कायोत्सर्गके बत्तीस दोषोका कथन किया है। साधुकेलिए यह अधिकार बहुत महत्त्वपूर्ण है।

९. नवम अध्यायका नाम नित्यनैमित्तिक क्रिया है। इसमे सौ श्लोक है। प्रथम चवालीस श्लोकोमे नित्यक्रियाके प्रयोगकी विधि बतलायी है। स्वाध्याय कब किस प्रकार प्रारम्भ करना चाहिए और कब किस प्रकार समाप्त करना चाहिए। प्रातःकालीन देववन्दना करनी चाहिए। कृतिकर्मके छह प्रकार कहे है--१. वन्दना करनेवालीकी स्वाधीनता, २. तीन प्रदक्षिणा, ३. तन निषद्या ( बैठना ), ४. तीन कायोत्सर्ग, ५. बारह आवर्त, ६. चार शिरोनति। आगे णमोकार मन्त्रके जपकी विधि और भेद कहे है।

इस अध्यायका छब्बीसवाँ श्लोक बहुत महत्त्वपूर्ण है। जिनदेव तो वीतरागी है न नन्दासे नाराज होते है और न स्तुतिसे प्रसन्न। तब उनकी स्तुतिसे फल-प्राप्ति कैसे होती है, इसका समाधान करते हुए कहा है--भगवानके गुणोमे अनुराग करनेसे जो शुभ भाव होते है उनसे कार्योंमे विघ्न डालनेवाले अन्तराय कर्मके फल देनेकी शक्ति क्षीण होती है अतः अन्तराय कर्म अष्टका धात करनेमे असमर्थ होता है। इससे वीतरागकी स्तुति इष्टसिद्धिकारक होती है।

प्रातःकालीन देववन्दनाके पश्चात आचार्य आदिकी वन्दना करनेकी विधि कही है। देववन्दना करनेके पश्चात दो घटिका कम मध्याह तक स्वाध्याय करना चाहिए। तदनन्तर भिक्षाकेलिए जाना चाहिए। फिर प्रतिक्रमा करके मध्या कालके दो घटिका पश्चात पूर्ववत स्वाध्याय करना चाहिए। जब दो घडी दिन शेष रहे तो स्वाध्यायका समापन करके दैवसिक प्रतिक्रमण करना चाहिए। फिर रात्रियोग गहण करके आचार्यकी वन्दना करनी चाहिए। आचार्यवन्दनाके पश्चात देववन्दना करनी चाहिए। दो घटिका रात बीतनेपर स्वाध्याय आरम्भ करके अर्धरात्रिसे दो घडी पूर्व ही समाप्त कर देना चाहिए। स्वाध्याय न कर सकेता देववन्दना करे।

इस प्रकार नित्यविधि बतलाकर नैमित्तिक विधि बतलायी है। नैमित्तिक क्रियाविधिमे चतुर्दशी क्रियाविधि, अष्टमी क्रियाविधि, पक्षान्त क्रियाविधि है, सन्यास क्रियाविधि, श्रुतपंचमी क्रियाविधि, अष्टाहिक क्रियाविधि, वर्षायोग ग्रहण, वर्षायोग मोक्ष, वीरनिर्वा क्रिया आदि आती है। इन सब क्रियाओमे यथायोग्य भक्तियोंका प्रयोग आश्यक होता है। भक्तिपाठके बिना कोई क्रिया नहीं होती।

आगे आचार्य पद प्रतिष्ठापनकी क्रियाविधि बतलायी है। आचारवत्त्व आदि आठ, बारह तप, दह आवश्यक और दस कल्प ये आचार्यके छत्तीस गुण कहे है इनका भी वर्णन है। अन्तमे दीखा ग्रहण, केशलोच आदिकी विधि है।

इस ग्रन्थमे साधुके अठाईस गुणोका वर्णन तो है किन्तु उन्हे एकत्र नहीं गिनाया है। ग्रन्थके अन्त मे स्थितिभोजन, एकभक्त, भूमिशयन आदिका कथन अवश्य किया है।



### ३. अनगार धर्मातृते चर्चित कुछ विषय

#### धर्म और पुण्य

अनगार धर्मातृतेके प्रथम अध्यायमे धर्मके स्वरू पका वर्णन करते हुए गन्थकारने सुख और दुःखसे निवृत्ति ये दो पुरषार्थ बतलाये है और उनका कारण धर्मको कहा है। अर्थात् धर्मसे सुखकी प्राप्ति और दुःख-से निवृत्ति होती है। आगे कहा है--जो पुरुष मुक्तिके लिए धर्माचरण करता है उसको सांसारिक सुख तो स्वयं प्राप्त होता है अर्थात् सांसारिक सुखकी प्राप्तिकी भावनासे धर्माचरण करनेसे सांसारिक सुखकी प्राप्ति किन्तु वह धर्म है क्या ? कौन-सा वह धर्म है जो मुक्तिके साथ सांसारिका सुखका भी दाता है। वह धर्म है--

सम्यग्दर्शनादियोगपद्यप्रवृत्तैकाग्रतालाणरू पशुध्दात्परिणमा । आत्माके स्वरू पका विशेष रू पसे निश्चय सम्यग्दर्शन है, उसका परिज्ञान सम्यग्ज्ञान है और आत्मामे लीनता सम्यकचारित्र है। ये तीनों एक साथ एकाग्रतारू प जब होते हैं उसे ही शुद्धात्मपरिणाम कहते हैं और यथार्थमे यही धर्म है। इसीसे मुक्तिके साथ सांसारिक सुख भी मिलता है। ऐसे धर्ममे जो अनुराग होता है उस अनुरागसे जो पुण्यबन्ध होता है। भयसे धर्मानुरागो नही छोडना चाहिए। हाँ, जो पुण्यबन्धकी भावना रखकर संसारसुखकी अभिलाषासे धर्मकर्म करते हैं वे पुण्यबन्धके यथार्थ भागी नही होते। जो संसारके विषयसुखमे मग्न है और उसीकी प्राप्तिके लिए धर्म करते हैं उनके कषायकी मन्दता कहों। और कषायकी मन्दताके अभावमे शुभभाव कहा ? और शुभभावके अभावमे पुण्यबन्ध कैसा ?

आशाधरजीने पुण्यको अनुषंग शब्दसे ही कहा है क्योकि वह धर्मसे प्राप्त होता है। धर्मके बिना पुण्यबन्ध भी नही होता है। अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यकचारित्ररू प धर्मका सेवन करते हुए जो शुभराग रहता है उससे पुण्यबन्ध होता है। सम्यग्दर्शन आदिसे पुण्यबन्ध नही होता। रत्नत्रय तो मोक्षका ही कारण है, बन्धका कारण नही है क्योकि जो मोक्षका कारण होता है वह बन्धका कारण नही होता। पुरुषार्थ-सिद्धपायमे आचार्य अमृतचन्द्रजीने इसे अत्यन्त स्पष्ट किया है। आशाधरजीने भी इसी अध्यायके ९१वे श्लोकमे रत्नत्रयकी पूर्णताको मोक्षका ही कारण कहा है और इसी प्रसंगसे पुरुषार्थसिद्धयुपायके बहुचर्चित श्लोकोके प्रमाण रू पसे उद्धृत किया है। वे श्लोक इस प्रकार हैं--

रत्नत्रयमिह हेतुर्निर्वाणस्यैव भविति नान्यस्य ।

आस्त्रवति यत्तु पुण्यं शुभोपयोगस्य सोयमपराधः ॥२२०॥

असमग्रं भावयतो रत्नत्रयमस्ति कर्मबन्धो यः ।

स विपक्षकृतोवश्यं मोक्षोपायो न बन्धनोपायः ॥२११॥

पुरुषार्थसिद्धयुपायमे नीचेवाला श्लोक पहले है। उसकी क्रम संख्या २११ है और ऊपरवाला श्लोक बादमे है। उसकी क्रमसंख्या २२० है। इस दूसरे श्लोकका अर्थ प्रयः विद्वान तक यह करत है कि असमग्रएकदेश रत्नत्रयका पालन करनेवालेके जो कर्मबन्ध होता है वह विपक्षकृत--रागकृत होनेपर भी अवश्य मोक्षका उपाय है बन्धनका उपाय नही है। किन्तु यह अर्थ गलत है। पं. आशाधरजीके द्वारा इस श्लोकको पूर्वमे न रखकर पीछे देनेसे इसके अर्थमे जो भ्रम है वह दूर हो जाना चाहिए। अर्थ इस प्रकार है--यहाँ रत्नत्रय निर्वाणका ही कारण है, बन्धका कारण नही है। किन्तु ( एकदेश ) रत्नत्रयका पालन करते हुए जो पुण्यका आस्त्रव होता है वह तो शुभोपयोगका अपराध है। अर्थात् उस समय जो शुभोपयोग होता है उसके कारण पुण्य कर्मका आस्त्र होता है।

एकदेश रत्नत्रयका पालन करते हुए तो कर्मबन्ध होता है वह कर्मबन्ध अवश्य ही विपक्ष-रागकृत है। क्योंकि मोक्षका उपाय बन्धनका उपाय नहीं होता।

अर्थात् रत्नत्रयके साथ रहेनेवाले शुभोपयोगसे बन्ध होता है। रत्नत्रयसे बन्ध नहीं होता। रत्नत्रय तो मोक्षका ही उपाय है। और मोक्षका उपाय बन्धनका उपाय नहीं होता। यही यर्थाथ है। प्रबुद्ध पाठक २११ से २२० तकके श्लोकोको पढ़े तो उनका भ्रम अवश्य दूर होगा। यदि आचार्य अमृतचन्द्रको पुण्यबन्धको मोक्षका कारण बतलाना इष्ट होता तो प्रथम तो वे कर्मबन्धोके स्थानमे ही पुण्यबन्ध शब्द रखते। दूसरे जो आगे कहा है कि जितने अंशमे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यकचारित्र है उतने अंशमे बन्ध नहीं होता। जितने अंशमे राग है उतने अंशमे बन्ध होता है, यह कहना व्यर्थ हो जाता है। उसका कोई प्रयोजन नहीं रहता।

किसी भी श्लोकका अर्थ पूर्वापर सापेक्ष ही यर्थाथ होता है। पुरु शार्थसिद्धयुपायमे गृहस्यके एकदेश रत्नत्रयके कथनका उपसंहार करते हुए २०९ नम्बरके पद्यमे उसे स्वीकार करते हुए कहा गया कि वह कर्मबन्ध रत्नत्रयसे नहीं होता किन्तु रत्नत्रयके विपक्षी रागके कारण होता है अर्थात् एकदेश रत्नत्रयका पालन करते हुए जो राग रहता है वही बन्धका कारण है, रत्नत्रय बन्धका कारा नहीं है। वह तो मोक्षका कारण है और जो मोक्षका कारण होता है वह बन्धका कारण नहीं होता। आगेक सब पद्य इसीकी पुष्टिमे कहे गये हैं--जिस अंशसे सम्यग्दृष्टि है, सम्यग्ज्ञानी है, सम्यकचारित्री है उस अंशसे बन्ध नहीं होता। जिस अंशसे राग है उस अंशसे बन्ध होता है। योगसे प्रदेशबन्ध होता है। कषायसे स्थितिबन्ध होता है। दर्शन ज्ञान चारित्र न तो योगरूप है न कषायरूप है। तब इनसे बन्ध कैसे होता है। अतः रत्नत्रय तो निर्वाणका ही हेतु है बन्धका हेतु नहीं है। उसे होते हुए जो पुण्यका आस्त्रव होता है वह तो शुभोपयोगका अपराध है।

यदि श्लोक २११ का अर्थ यह करते हैं कि वह कर्मबन्ध मोक्षका ही उपाय है तो आगेके कथनके साथ उसकी संगति नहीं बैठती और दोनोमे पूर्वापर विरोध तो आता ही है।

पुरु शार्थसिद्धयुपायका जो प्राचीन संस्करण प्रचलित रहा है। वह रयचन्द्र शास्त्रमालासे १९०४ मे प्रकाशित हुआ था। उसका हिन्दी अनुवाद नाथूरामजी प्रमीने किया था। पं. टोडरमजली तो पुरु शार्थसिद्धयुपाय की पूरी टीका नहीं लिख सके थे। उसकी पूर्ति पं. दौलतरामजीने की थी। एका टीका पं. भूधर मिश्रने ली थी। वह पहले ब्राम्हण थे और पुरु शार्थसिद्धयुपायके अहिंसा प्रकरणसे प्रभावित होकर पीछे प्रसिद्ध पं. भूधरदत्तस हुए। प्रमीजीने अपने अनुवादके उत्तर भागमे पं. भूधर मिश्रकी टीकासे सहायता जी थी। इसीसे प्रमीजी भी २११ के अर्थमे गलती कर गये और इस तरह उस गलत अर्थकी ऐसी परम्परा चली कि आजके विद्वान भी उसी अर्थको ठीक मानने लगे। इसी तरहसे गलत परम्परा चलती है और उससे जिनागमके कथनमे भी पूर्वपर विरोध उपस्थित होता है। अतः पु. सि. क श्लोक २११ का ता यह अर्थ है ही नहीं कि पुण्य बन्ध मोक्षका कारण है। यह एक भिन्न प्रश्न है। पुण्यबन्धके साक्षात् मोक्षका कारण तो कोई भी नहीं मानता। जो मानते हैं वे भी उसे परम्परा कारण मानते हैं वे भी उसे परम्परा कारण मानते हैं और वह भी सम्यग्दृष्टिका पुण्यबन्ध ही परम्परा मोक्षका कारण होता है मिथ्यादृष्टिका नहीं। क्योंकि सम्यग्दृष्टि पुण्यबन्धकी भावना रखकर धर्मकार्य नहीं करता। पुण्यको तो वह हेतु ही मानता है किन्तु रागके सध्दावस पुण्यबन्ध तो होता है। निरीह भावसे संचित हुए ऐसे पुण्यबन्धको ही किन्हीने परम्परासे मोक्षका कारण कहा है।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षामे तथं उसकी संस्कृत टीकामे पुण्यके सम्बन्धमे बहुत ही उपयोगी और श्रद्धान करने योग्य कथन है। गाथाओका क्रंमाक ४०९ से ४१३ तक है। नीचे हम उनका अर्थ देते हैं--

ये दस धर्म पापकर्मके नाशक और पुण्यके जनक कहे हैं। किन्तु पुण्यके लिए उन्हें नहीं करना चाहिए ॥४०९॥

इसकी टीकामे आचार्य शुभचन्द्रने कहा है कि पुण्य संसारका कारण है इसलिए पुण्यके लिए दस धर्म नहीं करना चाहिए।

जो पुण्यकी इच्छा करता है वह संसारकी इच्छा करता है। क्योंकि पुण्य सुगतिका कारण है और पुण्यके क्षय होनेसे निर्वाण होता है ॥४१०॥

जो विषयसुखकी तृष्णासे पुण्यकी इच्छा करता है उस मनुष्यके तीव्र कषाय है। क्योंकि तीव्र कषायके विना विषय सुखकी इच्छा नहीं होती। अतः विशुद्धि उससे कोसो दूर है और विशुद्धिके विना पुण्य कर्मका बन्ध नहीं होता ॥४११॥

तथं पुण्यकी इच्छा करनेसे पुण्यबन्ध नहीं होता। जो निरीह होता है अर्थात् परलोकमे सुखकी वांछा नहीं रखता, देखे हुए सुने हुए भोगे हुए भोगोकी आकांक्षा रूप निदानसे रहित है, उसीको पुण्य प सम्पत्ति प्राप्त होती है। ऐसा जानकर हे मुनिजनो ! पुण्यमे भी आदर भाव मत करो ॥४१२॥

मन्द कषायी जीव पुण्यबन्ध करता है अतः पुण्यबन्धका कारण मन्दकषाय है, पुण्यकी इच्छा पुण्यबन्धका कारा नहीं है ॥४१३॥

सारांश यह है कि जिनागममे जो पुण्यकी प्रशंसा की गयी है वह विषय कषायमे आसक्त संसारी जीवोको पाप कर्म छुड़ानेके लिए की गयी है। उनके लिए पापकी अपेक्षा पुण्यबन्ध उपादेय हो सकता है किन्तु मोक्षाभिलाषीके लिए तो जैसे पाप त्याज्य है वैसे ही पुण्यबन्ध भी त्याज्य है। देवपूजा मुनिदान व्रतादि पुण्यकर्म भी वह मोक्ष सुखकी भावनासे ही करता है, पुण्यबन्धकी भावनासे नहीं करता। यदि करता है तो उसका पुण्यबन्ध संसारका ही कारण है।

### निश्चय और व्यवहार

आचार विषयक ग्रन्थोमे एक पुरु षार्थ सिध्दयुपायके प्रारम्भमे ही निश्चय और व्यवहारकी चर्चा मिलती है। उसमे कहा है कि भूतार्थको निश्चय और अभूतार्थको व्यवहार कहते हैं। प्रयः सारा संसार भूतार्थको नहीं जानता और न जानना ही चाहता है। मुनीश्वर अज्ञानीको समझानेके लिए अभूतार्थका उपदेश देते हैं। जो केवल व्यवहारको ही जानता है वह उपदेशका पात्र नहीं है। जैसे जो शेरको नहीं जानता उसे समझानेके लिए बिलावके समान सिंह होता है ऐसा कहनेपर वह बिलावके ही सिंह मानता है। उसी प्रकार निश्चयको न जाननेवाला व्यवहारको ही निश्चय मानता है। यह कथन याथर्थ है। अज्ञानी ही नहीं ज्ञानी पुरु श भी व्यवहारको ही निश्चय मानकरा बैठ जाते हैं।

पं. आशाधरजी इस रहस्यसे अभिज्ञ थे। अतः उन्होंने अनगार धर्माभूतके प्रारम्भमे निश्चय और व्यवहारका स्वरूप तथं उसके भेदोका स्वरूप कहा है। तथं अन्यत्र भी यथास्थान निश्चयधर्म और व्यवहार धर्मको स्पष्ट किया है।

निश्चय रत्नत्रयका स्वरूप बतलाते हुए उन्होंने लिखा है ( १।९१ ) जिसका निश्चय किया जाता है उसे अर्थ कहते हैं। अर्थसे अभिप्राय है वस्तु। विपरीत या प्रमाणसे बाधित अर्थ मिथ्या होता है। उस

सर्वाथ एकान्तरूपेण मिथ्या अर्थके आग्रहको मिथ्यार्थ अभिनिवेश कहते हैं। उससे शून्य अर्थात् रहित जो आत्मरूप है वह निश्चय सम्यग्दर्शन है। अथवा जिसके कारण मिथ्या अर्थका आग्रह होता है वह भी मिथ्यार्थ अभिनिवेश कहा जाता है। वह है दर्शनमोनीय कर्म, उससे रहित जो आत्मरूप है वह निश्चय सम्यग्दर्शन है। इस सम्यग्दर्शनके होनेपर ही अनादि संसार सान्त हो जाता है।

तत्त्वरूप चिको जो सम्यक्त्व कहा है वह उपचारसे कहा है। क्योंकि यदि तत्त्वचिको सम्यक्त्व कहा जायेगा तो क्षीणमोह आदि गुणस्थानोमे सम्यक्त्वका अभाव प्राप्त होगा क्योंकि वहाँ रूप चिक नहीं है। उसके बिना चरित्र धारण करनेपर भी सम्यक्त्व प्रकट हो सकता है। सम्यक्त्वपूर्वक चारित्र ही सम्यक्चारित्र होता है। सम्यक्त्वके बिना मुनिव्रत भी मिथ्याचारित्र कहलाता है। तभी तो कहा है--

यह सम्यक्त्व तत्त्वश्रद्धाके बिना नहीं होता। और तत्त्वश्रद्धा तत्त्वोपदेशके बिना नहीं होती। अतः जीव अजीव आदि तत्त्वोका परिज्ञानपूर्वक श्रद्धान सम्यक्त्वकी उत्पत्तिके लिए अत्यन्त आवश्यक है। उसके बिना चारित्र धारण करनेपर भी सम्यक्त्व प्रकट नहीं हो सकता। और चारित्रके बिना तत्त्व श्रद्धा मात्रसे सम्यक्त्व प्रकट हो सकता है। सम्यक्त्वपूर्वक चारित्र ही सम्यक्चारित्र होता है। सम्यक्त्वके बिना मुनिव्रत भी मिथ्याचारित्र कहलाता है। तभी तो कहा है --

मुनिव्रतधारा अनन्तवार ग्रैवेयक उपजायो।

पै निज आत्म ज्ञान विना सुखलेश न पाये ॥ --छहढाला।

अतः संसारका अन्त करनेके लिए आत्मपरिज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। आत्मज्ञानकी आरसे उदासीन रहकर चारित्र धारण करनेसे कोई लाभ नहीं है। अतः सबसे प्रथम सम्यक्त्वकी प्राप्तिके लिए ही प्रयत्न करना चाहिए। कहा है--

तत्रदौ सम्यक्त्वं समुपाश्रयणीयमक्षिलयत्नेन।

तस्मिन् सत्येव यतो भवति ज्ञानं चारित्रं च ॥२१॥--पुरु षंथसि.

उस रत्नत्रयमे-से सर्वप्रथम समस्त प्रयत्नपूर्वक सम्यक्त्वको सम्यकरूपसे प्राप्त करना चाहिए। क्योंकि उसके होनेपर ही सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र होता है।

तथा संशय, विपर्यय और अज्ञानसे रहित यथार्थ परिज्ञानरूप निश्चय सम्यग्ज्ञान है। वह आत्मस्वरूप है। और आत्माका अत्यन्त उदासीनरूप निश्चय सम्यक्चारित्र है जो समस्त कषायोके और ज्ञानावरण आदि कर्मोके अभावमे प्रकट होता है। ये तीनों जब पूर्ण अवस्थाको प्राप्त होते हैं तो मोक्षके ही मार्ग होते हैं। तथा व्यवहाररूप अपूर्ण रत्नत्रय अशुभकर्म पुण्यपाप दोनोका संवर और निर्जरा करता है। जीवादितत्त्व विषयक श्रद्धानको व्यवहार सम्यग्दर्शन कहते हैं। उनके ज्ञानको व्यवहार सम्यग्ज्ञान कहते हैं और मन, वचन, कायकी कृत कारित अनुमोदनासे हिंसादिका त्याग व्यवहार सम्यक्चारित्र है।

व्यवहारनयका अर्थ पं. आशाधरजी-ने अशुद्ध द्रव्यार्थिक लिया है। जो विधिपूर्वक विभाग करता है वह व्यवहारनय है। अर्थात् गुण और गुणीमे भेद करना व्यवहारनय है। जैसे आत्मा और रत्नत्रयमे भेद बुद्धि व्यवहारनय है। शुद्ध द्रव्यार्थिककी दृष्टिमे ये तीनों आत्मस्वरूप ही होते हैं। अतः निश्चयनयसे उन तीनोंसे समाहित अर्थात् रत्नत्रयात्मक आत्मा ही मोक्षका मार्ग है। पंचस्तिकायमे कहा है--

धम्मादीसद्यहण सम्मत्तं णाणमंगपुव्वगंद।

चेटटा तवम्हि चारिया ववहारो मोक्खमग्गोत्ति ॥१६०॥

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यकचारित्र मोक्षका मार्ग है। उनमें-से द्रव्यके भेद धर्मादि और पदार्थके भेद तत्त्वार्थके श्रद्धानरूप भावको सम्यग्दर्शन कहते हैं। तथा तत्त्वार्थश्रद्धानके सदभावमें अंग और पूर्वगत पदार्थाका ज्ञान सम्यग्ज्ञान है। और आचारांग आदि सूत्रोंमें जो मुनिके आचारोंका समुदायरूप तप कहा है उसमें प्रवृत्ति सम्यक चारित्र है। यह व्यवहानयकी अपेक्षा मोक्षमार्ग है। ( जिसमें साध्य और साधनमें भेद दृष्टि होती है और जो स्वपर हेतुक पर्यायके अश्रित है वह व्यवहानय है ) उस व्यवहानय या अशुद्ध द्रव्यार्थिकनयसे यह मोक्षमार्ग है। इसका अवलम्बन लेकर जीव ऊपरकी भूमिकामें आरोहण करता हुआ स्वयं रत्नत्रयरूप परिणमन करते हुए भिन्न साध्य-साधन भावका अभाव होनेसे स्वयं शुद्ध स्वभावरूप परिणमन करता है और इस तरह वह निश्चय मोक्षमार्गके साधनपनेको प्राप्त होता है। तथा--

णिच्छयणयेण भणितो तिहि तोहि समाहितो हु जो अप्पा ।

ण कुणदि किचं वि अण्णं ण मुयदि सो मोक्खमग्गोत्ति ॥१६१॥

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यकचारित्रसे समाहित आत्मा ही निश्चयसे मोक्षमार्ग है।

इस व्यवहार और निश्चय मोक्षमार्गमें साध्य-साधनभावको स्पष्ट करते हुए आचार्य अमृतचन्द्रजीने कहा है कि कोई जीव अनादि अज्ञानके हटनेसे व्यवहार मोक्षमार्गको धारण करता है तो वह तत्त्वार्थका अश्रद्धान, अंगपूर्वगत अर्थका अज्ञान और तपमें अचेष्टाको त्यागकर तत्त्वार्थ श्रद्धान, अंगपूर्वगत अर्थके ज्ञान और तपमें चेष्टा रूप व्यवहार रत्नत्रयको अपनाता है। कदाचित् त्यागने योग्यका ग्रहण और ग्रहण करने योग्यका त्याग हो जाता है तो उसका प्रतीकार करके सुधार करता है। इस तरह व्यवहार अर्थात् भेद रत्नत्रयकी आराधना करते-करते एक दिन वह स्वयं त्याग और ग्रहणके विकल्पसे शून्य होकर स्वयं रत्नत्रय रूप परिणत होकर निश्चय मोक्षमार्ग रूप हो जाता है।

जबतक साध्य और साधनमें भेददृष्टि है तबतक व्यवहानय है और जब आत्मा आत्माको आत्मासे जानता है, देखता है, आचरता है तब आत्मा ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यकचारित्र होनेसे अभेद दृष्टिरूप निश्चयनय है। आशाधरजीने व्यवहार और निश्चयका यही लक्षण किया है--

कर्ताद्या वस्तुनो भिन्ना येन निश्चयसिद्धये ।

साध्यन्ते व्यवहारोसौ निश्चयस्तदभेददृक ॥१-१०२॥

जिसके द्वारा निश्चयकी सिद्धिके लिए कर्ता-कर्म-करण आदि कारक वस्तु-जीवादिसे भिन्न जाने जाते हैं वह व्यवहानय है। और कर्ता आदिको जीवसे अभिन्न देखनेवाला निश्चयनय है।

इससे स्पष्ट है कि निश्चयकी सिद्धि ही व्यवहारका प्रयोजन है। उसके बिना व्यवहार भी व्यवहार कहे जानेका अपात्र है। ऐसा व्यवहार ही निश्चयका साधक होता है। निश्चयको जाने बिना किया गया व्यवहार निश्चयका साधक न होनेसे व्यवहार भी नहीं है। आशाधरजीने एक दृष्टान्त दिया है। जैसे नट रस्सीपर चलनेके लिए बॉसका सहारा लेता है और जब उसमें अभ्यस्त हो जाता है तो बॉसका सहारा छोड़ देता है उसी प्रकार निश्चयकी सिद्धिके लिए व्यवहारका अवलम्बन लेना होता है किन्तु उसकी सिद्धि होनेपर व्यवहार स्वतः छूट जाता है। व्यवहारके बिना निश्चयकी सिद्धि सम्भव नहीं है किन्तु व्यवहारका लक्ष्य निश्चयक होना चाहिए और वह सतत दृष्टिमें रहना चाहिए। निश्चयरूप धर्म धर्मकी आत्मा है और व्यवहाररूप धर्म उसका शरीर है। जैसे आत्मासे रहित शरीर मुर्दा--शवमात्र होता है वैसे

ही निश्चयशून्य व्यवहार भी जीवहीन होता है, उससे धर्मसेवनका उद्येश सफल नहीं होता। धर्म यथार्थमे वही कहलाता है जिससे संवरपूर्वक निर्जरा होकर अन्तमे समस्त कर्मबन्धनसे छुटकारा होता है।

आठवे अध्ययमे छह आवश्यकोके कथनका सूत्रपात करते हुए आशाधरजीने कहा है--स्वात्मामे निःशंक स्थिर होनेकेलिए छह आवश्यक करना चाहिए। यहाँ स्वात्मा या स्व-स्वरू पका चित्रण करते हुए वह कहते है--

शुध्दज्ञानधनस्वरू प जैसा आत्मा है, उसी रू पसे स्वसंवेदन प्रत्यक्षकेद्वारा अनुभव करता हुआ घ्यह मै अनुभूति हूँइस प्रकारकी स्वसंवित्तिके साथ अभेद रू पसे संगत जो श्रध्दा है उस रू प आत्मामे अर्थात् आत्माकेद्वारा आत्मामे निश्चित मै उसीमे स्थिरि होनेकेलिए छह आवश्यक करता हूँ। षडावश्यक करते हुए यह भावना होनी चाहिए। अर्थात् निश्चयसम्यग्दर्शन और निश्चयम्यग्ज्ञानसे सम्पन्न साधु निश्चयचारित्रकी प्राप्तिकेलिए षडावश्यक करता है।

इस प्रकरणकेप्रारम्भमे आशाधरजीने समयसारमे प्रतिपादित वस्तुस्वरू पको अपनाया है। उसकेबिना मोक्षमार्गकी गाडी चल ही नहीं सकती। जो आत्मज्ञानकेबिना जिनलिंग धारण करकेपूजापाठमे अपना कालयापन करते है बाह्यवेश मात्रसे दिगम्बर होनेपर भी यथार्थमे निर्गन्थ लिगकेअधिकारी ही नहीं है।